यह सब कुछ है, फिर भी मुझे किसी ऐसी प्राचीन पुस्तकका ज्ञान नहीं है जिसमें सौन्दर्य्यका तात्विक विवेचन किया गया हो। श्री हरिवंश-सिंहका प्रयास इस दृष्टिसे सर्वथा प्रशंसनीय है। उन्होंने दिखलाया है कि सौन्दर्यकी अनुभूतिके लिए कौनसी परिस्थिति अनुकूल होती है द्रष्टा और दृश्यमें कौन कौनसे गुण होने चाहिये। उन्होंने यह भी दिख-लाया है कि और गुणोंके साथ साथ तन्मयताकी कितनी बड़ी आवश्य-कता है और प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानोंके विचारोंका विश्लेषण तथा समन्वय करके यह स्पष्ट कर दिया है कि सौन्दर्य्यके आनुषङ्गी गुण चाहे जो हों, उसका मुख्य रूप यह है कि वह सत्य है। जिस समय हम सौन्दर्य्य-का अनुभव करते हैं उस समय हम वस्तुत उस सत्य, उस तथ्यका अनु भव करते हैं जो इस सारे चराचर जगत्का मूल है।

यह सत्य कैसा है? अद्वैतवादी एक अखड अविनिय सत्ताका प्रति पादन करता है पर यदि कोई ऐसी सत्ता है तो वह अनुभवका विषय नहीं हो सकती। उसमें तो द्रष्टा, दर्शन और दृश्यका अन्तर्भाव हो जायगा। अत उसे सुन्दर नहीं कह सकते। फलत जिसका सौन्दर्य्यकी पराकाष्ठाके रूपमें दर्शन हो सकता है वह अद्वैतवादीका शुद्ध ब्रह्म नहीं हो सकता। वह अखण्डैकरस नहीं है प्रत्युत एक चिदचित् प्रवाह है। यदि उसके लिए ईश्वर शब्दका प्रयोग किया जाय तो वह ईश्वर पूर्ण नहीं वर्द्धमान है। बर्गसॉने ऐसे ही ईश्वरकी कल्पना की है। पुरुष, प्रकृति, शक्ति, पचभूत, मैटर, नियति, यह सब इसी प्रवाहके अन्तर्गत हैं। यह प्रवाह उच्छृङ्खल, उनियम, नहीं है। जिस नियमके अनुसार यह चल रहा है उसको ही अपने अपने अनुभवके अनुसार कोई लीला, कोई कर्म, कोई डाइलेक्टिक प्रोसेस कहता है। यह प्रवाह है, इसी-लिए परिवर्तनशील है। इसीलिए किसीने कहा था 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूप रमणीयताया'। इसी बातका अनुभव करके हाफ़िजने कहा था कि उनका शाहिदे दिलरबा, उनका प्रेमास्पद, उनके

लिए नक़्शे निगारो रंगोबू, ताज़ः बताज़ः नौ बनौ—नये नये, ताज़े ताजे रूप, रंग और गंध—की सृष्टि करता है। यह एक नियमसे परिचालित है, इसलिए एक है; प्रवाह है, परिवर्तनधर्म्मा है, इसलिए अनेक है। इस प्रवाह, इस धारा, के लिए न 'क्यों' पूछा जा सकता है, न 'कहाँ'। साधारण मनुष्य जो अपने नित्यके झगड़ोंमें डूबा रहता है इससे अनभिज्ञ रहता है। इसका अंग है, इसके साथ बह रहा है, पर उसे इसका पता नहीं होता। पर जो इसके किसी अंशका, इसकी किसी लहरीका, अनुभव कर लेता है वह एक अद्भुत सुखका अनुभव करता है। इस अनुभव करनेके मार्ग भिन्न भिन्न हैं। इसी भिन्नताके कारण कोई वैज्ञानिक कहलाता है, कोई दार्शनिक, कोई योगी। इन सबको ही इस दिक्कालानवच्छिन्न प्रवाहके स्वरूपका, अर्थात् सौन्दर्यका न्यूनाधिक अनुभव होता है। इनमेंसे जो जितना ही अपना अनुभव दूसरोंतक पहुँचा सकता है, वह उतना ही बड़ा कलाकार है। जो किसी इदंतरु प्रवाहकी किसी धाराविशेषकी गतिको पहिचानकर ज्ञानपूर्वक उसमें बहता है, वह शक्तिका अनुभव करता है। इस पहिचानके तारतम्यपर ही शक्तिका तारतम्य निर्भर है।

यह कहा जा सकता है कि दर्शनकालमें सबको सतत प्रवाहके रूपमें सौंदर्यका अनुभव नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थिरता, निश्चल ध्रुवसत्ता, का साक्षात्कार हो रहा है। यह ठीक है, पर इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण सत्यके अनुभवका अधिकारी नहीं है। जिसकी बुद्धि जितनी ही परिष्कृत होगी वह उतना ही प्रवाहको प्रवाहरूपमें गोचर कर सकेगा। अन्यथा उसे उस प्रवाहका एक विकृत रूप ही प्राप्त होगा। गतिका विकार ही निश्चलता है। बर्गसाँने इसका बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है। हिलते डोलते मनुष्योंके सामने तेज़से तेज़ फोटो लेनेवाला कैमेरा रखिये। उसके प्लेटपर चित्र अंकित हो जायँगे। मनुष्य निरन्तर गतिशील था परन्तु कैमेरामें उसकी गति गतिहीन चित्रों-

के रूपमें अंकित हुई। स्थिरता, निश्चलता, एकरसता उस निरन्तर प्रवाहात्मक, गतिशील सत्यका, जो क्षणे क्षणे नव है, बुद्धिमें प्रतिबिम्ब है। जितनी ही बुद्धि परिष्कृत होगी उतना ही प्रतिबिम्ब मूलके सदृश होगा। एक और बात है। निर्बाध गतिका यह लक्षण है कि उसकी प्रतीति होती ही नहीं। जब बाधा पड़ती है तभी अपनी गतिका पता चलता है। जिस समय कोई व्यक्ति अपनेको प्रवाहसे तन्मय कर लेता है उस समय उसे स्थिरताका अनुभव होता है।

द्रष्टाकी बुद्धिके अनेक बन्धन हैं। तन्मयताकी कमी तो सर्वोपरि है ही, अपनी गर्भावस्था तथा जन्मके पीछेके अनुभव बुद्धिको रञ्जित करते हैं, देशकालके प्रतिबन्धका भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। कार्लमार्क्स और उनके अनुयायियोंने इस सम्बन्धमें जो कुछ कहा है वह बहुत महत्त्व रखता है। किसी देश या काल विशेषकी जैसी आर्थिक व्यवस्था होती है, जिस प्रकार जीवन निर्वाह और उपभोगकी सामग्रीका उत्पादन और वितरण होता है, उसीके अनुसार उस देश और कालमें लोगोंके विचार भी होते हैं। दर्शन, राजनीति, धर्म्म सबपर ही इस आर्थिक व्यवस्थाकी छाप पड़ती है। यह सिद्धान्त समाजवादका एक दृढ़ स्तम्भ है। इसकी विशद व्याख्याका यह स्थल नहीं है पर थोड़ासा विचार भी यह दिखला देगा कि मनुष्यका बौद्धिक या सांस्कृतिक जगत् उसके भौतिक या आर्थिक जगत्से सर्वथा पृथक् या अप्रभावित नहीं रह सकता। आर्थिक वातावरणके अनुसार बुद्धि बनेगी और जैसी बुद्धि होगी वैसी ही उसमें सौंदर्य्यको ग्रहण करने तथा उसे व्यक्त करनेकी सामर्थ्य होगी। सौंदर्य्य का जगत् नित्यकी रोटी दालकी दुनियासे बहुत दूर प्रतीत होता है पर रोटी दाल खानेवाले ही उसमें उड़ते हैं और वह लोग उड़कर जो कुछ प्राप्त करते हैं वह रोटी दालकी दुनियावालोंके लिए ही होता है। सबसे बड़ा सौंदर्य्यानुभव तो यह समझनेमें है कि यह दोनों जगत् एक ही प्रवाहके अङ्गभूत हैं और सबसे बड़ी कला इस दुनियाके छिपे सौंदर्य्यको

व्यक्त करनेमें है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि कलाका जगत् कोई और है, 'कला कलाके लिए है' उनको सौंदर्य्यका अनुभव होता ही नहीं। वह तो अपनी उन मानस-ग्रन्थियोंमें उलझे हुए हैं जिनका विश्लेषण फ्रायड या उनके अनुयायी ही कर सकते हैं।

हम भारतीयोंके जीवनमें, हमारी शिक्षामें, सौंदर्य्यका स्थान बहुत ही कम रह गया है। मैं आशा करता हूँ कि यह पुस्तक हिन्दी-भाषियों-का ध्यान इस ओर आकर्षित करेगी।

जालिपादेवी,
काशी

सम्पूर्णानन्द

दो शब्द

आजकल 'दो शब्द' के नामसे पुस्तकके प्रारम्भमें कुछ लिखनेकी परिपाटी सी चल पड़ी है। मेरी इच्छा तो न थी कि इस परिपाटीका अनुसरण कर व्यर्थ ही पुस्तकके कलेवरकी वृद्धि करता, पर इस पुस्तकके इस रूपमें आनेकी कथा कुछ ऐसी है जिससे बिना कुछ लिखे जी नहीं मानता।

जब मैं काशी विद्यापीठके द्वितीय वर्षमें पढ़ता था, तब एक दिन हम लोगोंमें परस्पर यह चर्चा चली कि शास्त्री-परीक्षाके लिए कौन किस विषयपर निबन्ध लिखे। इस सम्बन्धमें बाबू सम्पूर्णानन्दजीसे भी, जो हम लोगोंको पाश्चात्य दर्शन पढ़ाते थे, राय ली गयी। उन्होंने कहा कि "मेरी तो यह उत्कट इच्छा है कि शास्त्री-परीक्षामें सम्मिलित होनेवाला कोई विद्यार्थी 'सौंदर्य' पर दार्शनिक दृष्टिसे एक निबन्ध लिखे। क्या ही अच्छा हो यदि तुम लोगोंमेंसे कोई मेरी इस अभिलाषाकी पूर्ति करनेका प्रयत्न करे।" निदान मैंने उनकी सलाह मानकर निबन्धके लिए यही विषय चुननेका संकल्प कर लिया।

संकल्प तो मैंने कर लिया किन्तु जब 'सौंदर्य' पर निबन्ध लिखनेमें जो कठिनाइयाँ सामने थीं उनपर विचार करने लगा, तब तो हिम्मत छूटने लगी। एक तो जिस विषयपर निबन्ध लिखना था, उसपर हिन्दी या संस्कृतमें कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था जिससे कुछ सहायता लेता। दूसरे, मेरी आर्थिक अवस्था मुझे बाध्य कर रही थी कि मैं तृतीय और चतुर्थ वर्षकी परीक्षा प्राइवेट बैठ कर दूँ। मेरे घरवाले आर्थिक सहायता देनेसे इन्कार

करते थे, क्योंकि असहयोग आन्दोलनमें पड़कर मैं उनके लि
कुछ कमाने योग्य नहीं रह गया था और बाहरसे कुछ विशे
सहायता मिलनेकी आशा न थी। अन्तमें बाध्य होकर मुझे
नौकरी कर लेनी पड़ी। मैं नाभा स्टेट (पंजाब) के एक
मिडिल स्कूलका प्रधानाध्यापक हो गया। वहाँ रह कर मैंने
तृतीय वर्षकी परीक्षा दी। सितम्बर १९२९ में फिर काशी आ
गया और चतुर्थ वर्षकी परीक्षा तथा निबन्धकी तैयारीमें लग
गया। बाबू सम्पूर्णानन्दजीको इस विषयसे कितना प्रेम था
और उन्होंने किस प्रकार मेरी सहायता की, यह इसी एक बातसे
स्पष्ट हो जायगा कि उन दिनों जब वे प्रान्तीय कौंसिलकी बैठक-
में शामिल होनेके लिए लखनऊ जाते थे, तब मुझे भी साथ ले
जाते थे और वहाँ सुबह शाम मुझे यही विषय पढ़ाया करते
थे। पर अभी मैं निबन्धके लिए अपनी तैयारी पूरी भी नहीं कर
पाया था कि देशमें युद्धका डंका बजने लगा। महात्माजीने १९३०
के असहयोग आन्दोलन तथा प्रसिद्ध दण्डी यात्राकी तैयारी शुरू
कर दी। निदान मुझे बाध्य होकर निबंधको जल्दी जल्दी लिख
कर किसी तरह समाप्त कर देना पड़ा। जैसे तैसे करके फरवरी
सन् १९३० में निबन्ध तैयार हुआ और बाबू सम्पूर्णानन्दजीने भी
सरसरी तौरसे उसे देख डाला। मुझे 'शास्त्री' की उपाधि मिल
गयी। पर निबन्ध जिस दृष्टि और जिस आशासे लिखा गया
था, उसकी पूर्ति अभी बाकी ही थी। विचार यह था कि परीक्षा
सम्बन्धी आवश्यकता पूरी हो जानेके बाद इसमें यत्रतत्र आव-
श्यक सुधार करके पुस्तकाकार छपाया जाय। इसलिए यह
तय पाया कि बाबू सम्पूर्णानन्दजी इसे एक बार और देखें और
जहाँ जहाँ परिवर्तन या संशोधनकी आवश्यकता हो नोट करके
मुझे बतावें और मैं इस निबन्धको फिरसे लिखूँ तब कहीं छपने-

की चर्चा छेड़ी जाय। पर इसी बीच नमक-सत्याग्रह शुरू हो गया और हम लोगोंको जेल चले जाना पड़ा। निबन्ध बाबू सम्पूर्णानन्दजीके ही घरपर पड़ा रहा।

इसी प्रकार राजनीतिक उथलपुथलमें ३-४ वर्ष और बीत गये। अन्तमें गत वर्ष बाबू सम्पूर्णानन्दजीके उद्योगसे श्री काशी विद्यापीठके प्रकाशन-विभागने इसे पुस्तकके रूपमें निकालनेका निश्चय किया। उसीका यह परिणाम है कि आज मैं पाठकोंके सामने अपने विचार रखनेमें समर्थ हो सका हूँ।

मुझे यह कहनेमें तनिक भी संकोच नहीं है कि यह पुस्तक एक प्रकारसे मेरे गुरुदेव बाबू सम्पूर्णानन्दजीकी ही कृति है। उन्हींकी प्रेरणासे यह लिखी गयी। प्रेरणा ही नहीं, विषयका चुनाव, अध्यायोंका विभाजन तथा प्रत्येक अध्यायकी विचार-धारा सब उन्हींकी है। हाँ, इस पुस्तकमें जो त्रुटियाँ हैं वे मेरी हैं और वे इस लिए हैं कि एक तो मैं उनके विचारों एवं भावोंको ठीक ठीक व्यक्त नहीं कर सका हूँ, दूसरे इसे सुधारने तथा संशोधित करनेका न उन्हें ही अवसर मिला, न मुझे ही। मुझे तो मेरी गरीबीने और उन्हें आजकलके उनके राजनैतिक विचारोंने इसके लिए अवसर ही नहीं दिया। पर उन सब त्रुटियोंके होते हुए भी यह पुस्तक इसीलिए मातृभाषाके प्रेमियोंके सम्मुख उपस्थित की गयी है कि इसे देखकर तथा इसकी त्रुटियोंसे खिन्न होकर कोई विद्वान् लेखक इस विषयपर एक सर्वांग-सुन्दर एवं विचारपूर्ण पुस्तक लिखकर हिन्दी-जगत् तथा पूर्वीय दर्शनकी एक बड़ी भारी कमीकी पूर्ति करेगा।

इसके लिखनेमें मुझे जिन पुस्तकोंको पढ़ना पड़ा तथा सहायता लेनी पड़ी, उनमें 'सौंदर्यतत्त्व' नामक ग्रन्थका नाम विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि मुझे अपनी पुस्तकके द्वितीय,

तृतीय अध्यायोंके लिखनेमें उक्त पुस्तकसे बड़ी सहायत मिली है। अतः मैं हृदयसे उक्त पुस्तकके लेखकके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

काशी,
२७ फरवरी १९३६ ई०

हरिवंश

समर्पण

श्रीयुत बाबू सम्पूर्णानन्दजी

गुरुदेव !

आपकी वस्तु आपको ही समर्पण करते संकोच तो हो रहा है पर आपको यह तुच्छ गुरुदक्षिणा स्वीकार करनी ही पड़ेगी। अतः मैं किसी कविकी इस उक्तिके साथ कि,

"मेरा इसमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे है मोर॥"

आपके ही चरणकमलोंमें इसे समर्पित करता हूँ।

सेवक—
हरिवंश

विषय-सूची

पहला अध्याय

जीवनमें सौंदर्यका स्थान

जीवनमें सौंदर्यका स्थान महत्वपूर्ण है। यह सौंदर्य क्या है, कैसे दिखाई पड़ता है, इत्यादि बातोंकी मीमांसा हम यहाँ नहीं करना चाहते। आगे चलकर किसी उपयुक्त स्थानमें हम सौंदर्यकी परिभाषा देनेकी चेष्टा करेंगे। यहाँ तो हम केवल इतना ही दिखलाना चाहते हैं कि जड़ जगत्से लेकर चेतन जगत् तक, वनस्पतियोंसे लेकर पशु, पक्षियों तक एवं असभ्य, जंगली मनुष्यसे लेकर सभ्य मनुष्य तक, सभीमें सौंदर्यानुभव एवं सौंदर्याभिव्यक्तिकी चेष्टा पायी जाती है।

यद्यपि इस बातके माननेका कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है कि प्रकृति हमें (मनुष्योंको) प्रसन्न करनेके लिए ही कार्य करती है, फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि हमें प्रकृतिमें सौंदर्य दिखाई देता है। हम अकारण ही किसी प्राकृतिक दृश्यको देखकर उसे सुन्दरकी उपाधिसे विभूषित कर बैठते हैं। हम किसी पहाड़पर जाते हैं, वहाँ अचानक हमारी दृष्टि किसी घोरान्धकारसे आच्छादित गुफापर अथवा किसी गगनचुम्बी, हिमाच्छादित शैल शिखरपर पड़ती है। हम कहीं पर किसी जलप्रपातकी ओर एकटक दृष्टि लगाये देखने लगते हैं। हम यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि प्रकृतिने इस पर्वतमालाको, इस निबिड़तमाच्छादित गिरि गह्वरको, इस ऊँचे शैल शिखर एवं इस जलप्रपातको हमें प्रसन्न करनेके लिए ही रचा है पर इतना तो निश्चय है कि इन्हें देखकर हमें अलौकिक आनन्दका अनुभव होता है। हम इन दृश्योंको देखकर इन्हें 'सुन्दर' कहे बिना रह नहीं सकते।

साधारणतया यह सिद्धान्त अवश्य है कि प्रकृति जो कुछ दृश्य

रचती है सब 'पुरुष' को प्रसन्न करनेके ही लिए रचती है। पर यह 'पुरुष' का अर्थ मनुष्य नहीं लेना चाहिये। यहाँ पुरुष एवं प्रकृति विशे पारिभाषिक अर्थोंमें प्रयुक्त हैं जो हमारे विषयके बाहरकी बातें हैं। स्थू दृष्टया देखनेसे तो हमें यही जान पड़ता है कि कमसे कम वनस्पति ए पशु, पक्षी मनुष्यादिकोंकी जो चेष्टाएँ होतीं हैं, वे अपने स्वार्थसे भिन किसी अन्य कारणसे नहीं होतीं। अधिकसे अधिक यदि हुआ तो अप वर्गके ही किसी प्राणीको प्रसन्न करनेकी चेष्टा हुआ करती है पर य माननेका कोई प्रमाण नहीं है कि प्रकृतिमें जो भी चेष्टायें हैं वे सब ह ही प्रसन्न करनेके लिए हैं। किसी निर्जन वनमें कोई रंग बिरंगा फू फूलता है, भौंरा उसपर आकर बैठ जाता है। संयोगवश हम उधर जा निकलते हैं और इस दृश्यको एवं फूलको सुन्दर कह उठते हैं। अ हम यह तो नहीं कह सकते कि फूलने हमें प्रसन्न करनेके लिए ह यह सुन्दर रंग धारण किया था। इसी तरह यह कहना भी ठीक होगा कि भौंरा हमारे मुखसे सुन्दरकी उपाधि पानेकी धुन ही उस फूलपर आ बैठा था और हमारे आनेकी प्रतीक्षामें था इसके विपरीत हमें तो यही प्रतीत होता है कि मानो फूल अपने लिए ही ऐसा सुन्दर रूप बनाया था और भौंरा भी अपने ह लिए उसपर जा बैठा था। विज्ञानवादी बतलाते हैं कि वनस्पति जगत इन भौंरों एवं मधुमक्खियों द्वारा ही मैथुन करता है और संतान वृद्धि करता है। वे यह भी बतलाते हैं कि जो फूल जितना ही अधिक आकर्षक रंगवाला होगा एवं जिसमें जितनी ही अधिक सुगंधिकी मादकता होगी वह उतना ही अधिक भौंरों, तितलियों और मधुमक्खियोंको अपन ओर आकर्षित कर सकेगा एवं उतना ही अधिक वह अपनी संतान वृद्धि कर सकेगा। इस सिद्धान्तका निष्कर्ष तो यही निकलता है कि फूल अपने ही लिए समयपर खिलता है और भौंरे समयसे पहुंच जाते हैं अर्थात् सब अपने ही अपने लिए चेष्टावान् हैं। पर यह एक विचित्र

बात है कि यदि हमारी दृष्टि संयोगवश फूलका रस चूसते हुए एवं मधुर गान करते हुए भौंरेपर पड़ जाय तो हमारी हृत्तन्त्री एक साथ बज उठती है। हमें यह दृश्य अच्छा लगता है। जीमें आता है कि उसे देखते ही रह जाँय।

हमने ऊपर कई स्थानोंमें 'फूल अपनेही लिए खिलता है' 'भौंरा अपनेही लिए उसपर आ बैठता है' इत्यादि वाक्योंका प्रयोग किया है जिससे कोई इस भ्रममें पड़ सकता है कि इन वाक्योंसे हमारा अभिप्राय यह है कि फूल एवं भौंरे आदिमें जो सौंदर्याभिव्यक्ति होती है उसमें चेतनाका अंश भी वर्तमान है, अतः यहाँपर हम यह कह देना चाहते हैं कि वस्तुतः हमारे कथनका तात्पर्य यह नहीं है। अभीतक इसका ठीक पता नहीं लग सका है कि फूलमें जो सौंदर्य है (अर्थात् उसने जिन सुन्दर रंगों एवं मादक सुगन्धिको धारण किया है), उसमें सौंदर्यकी चेतना है अथवा नहीं। जिस प्रकार कोई सुन्दरी अपने प्रेमीको रिझानेके लिए अनेक प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे अपनेको सुसज्जित करती है अर्थात् उसकी सौंदर्याभिव्यक्तिमें सचेतन चेष्टा वर्तमान है; इस प्रकारकी चेतनाका ठीक पता अभीतक मनुष्येतर प्राणियोंमें नहीं लगा है। हाँ; मनुष्येतर कुछ प्राणियोंकी चेष्टाएँ कभी कभी इस प्रकारकी देखी ज़रूर जाती हैं जिससे यह अनुमान करनेको जी चाहता है कि सब नहीं तो मनुष्यसे भिन्न कुछ प्राणियोंमें तो अवश्य ही सौंदर्यकी चेतना वर्तमान है। एक दो उदाहरणोंसे हमारा आशय स्पष्ट हो जायगा। मोर जिस समय अपनी बड़ीसी पूँछको छत्राकार बनाकर नृत्य करने लगता है, उस समय वह कुछ ऐसी चेष्टाएँ करता है जिनसे ख़याल होता है कि उसे अपनी सुन्दरताका नाज़ है। आस्ट्रेलियामें एक पक्षी होता है जिसका नाम उसके गुणानुसार ही 'स्वर्गका पक्षी' (बर्ड आफ पैरेडाइज़) रखा गया है। यह पक्षी जब बच्चे पैदा करता है तब घोंसलेके सामने बड़ी ही सुन्दर फुलवारीकी रचना करता है। पहले वह हरे हरे कोमल घासके तिनकोंको लाकर बिछाता

है। उसके बीचमें छोटे छोटे रंग बिरंगे फूल सजाता है और फिर नन्हें नन्हें कङ्कड़ बिछाकर राह बनाता है। जिस समय वह इस फुलवारीको रच कर तैयार करता है, उस समय उसकी शोभा देखनेही लायक़ होती है। पुनः जब दो चार दिनमें घास सूख जाती है, एवं फूल मुर्झा जाते हैं तो वह पक्षी उन्हें फेंककर फिरसे नये उद्यानकी रचना करता है। इसी प्रकार जबतक बच्चा जवान होकर उड़ नहीं जाता, तबतक वह करता रहता है। अस्तु ! इन दो छोटे छोटे उदाहरणोंसे हमारा अभिप्राय कुछ अवश्यही प्रकट हो गया होगा। पर जैसा कि हम पहलेही लिख आये हैं अभीतक इसका ठीक ठीक निश्चय नहीं हो सका है कि मनुष्येतर प्राणियोंमें सौंदर्यकी चेतना वर्तमान है अथवा नहीं। अतएव इस प्रसंगको यहीं समाप्त कर हम अपने प्रकृत विषयपर आते हैं।

हाँ, तो हम यह कह रहे थे किस प्रकार फूल समयपर अपने ही लिए खिलता है एवं आकर्षक रंगोंको धारण करता है और उसी समय भौंरा भी वहां पहुँच जाता है। इससे जान पड़ता है कि प्रकृतिमें साहचर्य नियम—"कारेस्पाण्डेंस"—वर्तमान है। पर इस प्रकार खिले हुए फूलपर भौंरेका बैठना जो हमें अच्छा लगता है, वह किसी गूढ़ अर्थका द्योतक है। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि प्रकृतिमें कहीं न कहीं 'सहानुभूति' ('सिम्पैथी') का तार अवश्य वर्तमान है। इस अखिल ब्रह्मांडमें कोई ऐसा सूत्र अवश्य सर्वत्र विद्यमान है जिससे एक स्थानमें खटका होनेपर दूसरी जगह भी उस तारके द्वारा कम्पन प्रतीत होने लगता है। इस विषयपर हम आगे चलकर सविस्तर विचार करेंगे। यहाँ तो इतना ही कह देना अलम् होगा कि यदि इन बातोंके आधारपर हम किसी सूत्रात्माकी कल्पना करें तो वह न्याय-संगत ही होगा।

यह तो हुई मनुष्येतर जीवनमें सौंदर्यकी महत्ता। अब हम मनुष्य जीवनमें इसके महत्वका अनुसन्धान करेंगे, क्योंकि यद्यपि यह सत्य है कि प्रकृति हमें ही प्रसन्न करनेके लिए कार्य नहीं करती है पर

साथ ही यह भी सत्य है कि यदि हम न होते तो कदाचित् इन प्राकृतिक दृश्योंको 'सुन्दर' कहनेवाला भी कोई न होता। एक पक्षी किसी वृक्ष की शाखापर बैठकर मधुर स्वरमें गान करता है। विज्ञानवादी तो यह बताते हैं कि वह अपने साथीको बुलानेके लिए ऐसा करता है। पर उसके गानको एवं उस पक्षीको सुन्दर कहनेवाले हम ही—मनुष्य ही—हैं। अतः मनुष्य जीवनमें इस सौंदर्यका बहुत बड़ा महत्व है और ऐसा होना ठीक भी है, क्योंकि अन्य प्राणियोंके विषयमें कोई भले ही शंका करे कि उनमें सौंदर्यानुभवकी चेतना वर्तमान है अथवा नहीं, पर मनुष्य के विषयमें तो इस सन्देहको स्थान ही नहीं है। यहाँ तो जिस प्रकार मनुष्यकी और सब चेष्टाएँ सचेतन हैं अथवा जो इस समय सचेतन नहीं हैं, वे उद्योग करनेसे चेतनामें लायी जा सकती हैं वैसे ही सौंदर्याभिव्यक्ति भी सचेतन है। मनुष्योंमें तो जंगलीसे लेकर आजकलके सभ्य शिरोमणि कहे जानेवाले एवं बालकसे लेकर वृद्धतक सब बिना किसी हिचकिचाहटके सौंदर्यके सामने सिर झुकाते हैं। अपने रहनेके स्थानोंको सजानेके और उन्हें अपनी रुचिके अनुरूप सुन्दर बनानेकी एक असभ्य जंगली भी उतनी ही कोशिश करता है जितनी कोई सभ्य मनुष्य। सभ्य लोगोंकी भाँति भले ही उसके पास उतने साधन, पत्थर, लकड़ी, चूना, ईंट, आदि एवं इन्हें तैयार करनेकी बुद्धि न हो, पर जो भी साधन एवं बुद्धि उसके पास है, उसीके द्वारा वह अपने मकानोंको सुन्दर बनानेकी चेष्टा करता है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि मनुष्यमात्रमें यह प्रवृत्ति समानरूपसे पायी जाती है, हाँ रुचि-वैचित्र्यके कारण प्रकारमें भले ही भेद हो। इसी प्रकार प्राकृतिक दृश्योंको पसन्द (एप्रीशिएट) करनेकी प्रवृत्ति भी सब मनुष्योंमें पायी जाती है। किसी किसी पक्षीकी बोली सुनकर जिस प्रकार हम मन्त्रमुग्धसे हो जाते हैं, उसी प्रकार जंगली मनुष्य भी प्रसन्न होता है। निर्जन वनमें खिले हुए किसी कोमल एवं अकेले फूलको अथवा किसी सुन्दर उद्यानमें चतुर माली द्वारा सजायी हुई क्यारियाँ एवं

गमलोंमें खिले हुए पुष्प समूहको जिस प्रकार हम लोग सुन्दर कहकर प्रसन्न होते हैं, वैसे ही एक जंगली भी होता है। किसी ऊँचे गिरि-शिखरको देखनेकी लालसा सभ्य मनुष्य एवं असभ्य दोनोंमें समानरूपेण पायी जाती है। ऊँचे पहाड़ परसे घोर गर्जनाके साथ गिरते हुए किसी जल प्रपातको देखकर जिस प्रकार हमारा मन वहाँसे हटनेको राजी नहीं होता, वैसे ही एक असभ्य मनुष्यका मन भी हठ करता है। इसी तरह योगियोंकी आनन्ददायिनी, कवियोंकी सर्वस्व, कमल एवं चकवा-चकईकी आशा, संसारको प्रतिदिन नवीन दिव्य सन्देश सुनानेवाली, प्रकृति-सुन्दरीकी सोहागरूपिणी उषाको एकटक देखते रह जानेकी प्रवृत्ति सभ्य असभ्य सबमें है। सारांश यह कि प्राकृतिक दृश्योंको देखकर उनमें सौंदर्यका अनुभव करने और पसन्द करनेकी प्रवृत्ति भी सब मनुष्योंमें पायी जाती है। शिक्षा एवं अभ्यास तथा पैत्रिक प्रवृत्तिके कारण किसी प्राकृतिक दृश्यके विषयमें जंगलियों एवं सभ्योंमें अथवा सभ्य सभ्योंमें कुछ मतभेद भले ही हो—जैसे अरब एवं फारसके सभ्य लोग बुलबुल एवं गुलाबपर मुग्ध हैं, तो भारतीय भद्रपुरुष कोकिल एवं कमलपर कलम तोड़े बैठे हैं—पर इससे हमारे इस कथनमें कि 'प्राकृतिक दृश्योंको पसन्द करनेकी प्रवृत्ति सबमें पायी जाती है' कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रवृत्ति तो माननी ही पड़ेगी।

तीसरी बात जो सब मनुष्योंमें पायी जाती है, अपनी सजावटकी प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति दो प्रकारसे प्रकट होती है। एक तो प्रकृति-दत्त शरीरकी बनावटमें ही अपनी रुचिके अनुसार परिवर्तन करनेकी चेष्टाके रूपमें और दूसरी शरीरको आभूषण आदि ऊपरी सजावटसे सुन्दर बनानेकी प्रवृत्तिके रूपमें। पहली प्रवृत्तिने तो मनुष्य जीवनमें इतना महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया है कि लोग अपने शरीरको सुन्दर बनानेकी धुनमें कठिनसे कठिन शारीरिक कष्ट भी सहर्ष स्वीकार करते हैं। आस्ट्रेलियामें अब भी एक ऐसी जंगली जाति है जिसके कतिपय पुरुष

अपने शरीरको गरम लोहे एवं हथियारोंसे इसलिए दागते और खरोंचते हैं जिससे उनके बदनमें अनेक घाव एवं ऊँचाई निचाई होकर उनकी शोभा बढ़ावें। सभ्य समाजमें स्त्रियों और कतिपय पुरुषोंका गोदना गोदवाना भी इसी प्रवृत्तिका द्योतक है। चीनकी स्त्रियोंको जन्मसे ही लोहेके जूते पहनाकर उनके पैरको छोटा करनेकी कल्पना भी सौंदर्यसे ही सम्बन्ध रखती है। शरीरको ऊपरी बनावटसे सुसज्जित एवं सुन्दर बनानेकी प्रवृत्ति भी सब मनुष्योंमें पायी जाती है। हाँ, साधन एवं रुचिभेदके कारण प्रकारमें भले ही भेद हो। यह दूसरी बात है कि सभ्य-समाज साधन सम्पन्न एवं धनी होनेके कारण अपने शृंगारमें मोतियोंकी माला, सोने चाँदी एवं हीरेके आभूषण तथा रेशम, मखमल तनजेब आदिके अच्छे अच्छे तर्जों एवं फैशनके कपड़ोंका प्रयोग करता है और असभ्य जगली कौड़ीको गूथकर तथा मोर आदिके परोंको बाँधकर ही अपने तनकी शोभा बढ़ानेका प्रयत्न करता है, पर जो बात दोनोंमें ध्यान देने योग्य है वह है सौंदर्याभिव्यक्तिकी प्रवृत्ति।

इसी प्रकार सभ्य असभ्य सभी न केवल सौंदर्यको देखकर एवं अपने शरीरादिको सुन्दर बनाकर सन्तुष्ट होते हैं, प्रत्युत शब्दों द्वारा भी सौंदर्यको व्यक्त करनेकी चेष्टा करते हैं और इसीका परिणाम है गाना एवं कविता। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि असभ्यसे असभ्य जगली समाजमें भी किसी न किसी रूपमें गान एवं कविताका अस्तित्व पाया जाता है। न केवल शब्दों द्वारा बल्कि चित्रकारी आदि द्वारा भी मनुष्य सुन्दरताको व्यक्त करनेकी चेष्टा करता है जिसके विषयमें हम आगे चलकर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। यहाँ तो केवल इतना ही दिखलाना अभिप्रेत है कि मनुष्य-मात्र शब्दों द्वारा भी सौंदर्यको व्यक्त करनेकी चेष्टा करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्यमात्रमें (१) अपने मकान आदिको सुन्दर बनानेकी चेष्टा, (२) प्राकृतिक दृश्योंको पसन्द करना,

(३) अपनी सजावट करनेकी चेष्टा—शारीरिक परिवर्तन एवं ऊपरी बनावट द्वारा—एवं (४) शब्दों द्वारा सौंदर्यको व्यक्त करनेकी प्रवृत्ति पायी जाती है।

ऊपरकी पंक्तियोंमें हमने यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि रुचि वैचित्र्यके कारण व्यक्त करनेके ढंगमें भले ही भेद हो, पर प्रवृत्ति सभ्या-सभ्य सबमें वर्तमान है। अब हम इसी विषयको कुछ विस्तार और स्पष्टतासे असभ्यों, बालकों एवं सभ्योंपर पृथक् पृथक् विचार करते हुए लिखेंगे जिससे मनुष्य जीवनमें सौंदर्यका स्थान भलीभाँति प्रकट हो जाय।

सर्व-प्रथम हम असभ्य जीवनपर विचार करेंगे। जैसा कि हम प्रथम ही कह आये हैं—इस असभ्य जीवनमें भी सौंदर्यने अपना सिक्का जमा रखा है। असभ्यसे असभ्य, नित्य नंगे फिरनेवाले और बौने कहे जानेवाले मनुष्योंमें भी सौंदर्य-बोध पाया जाता है। वे भी अपने मकानोंको सजानेकी चेष्टा करते हैं। प्राकृतिक दृश्योंको देखकर वे भी प्रसन्न होते हैं। अपने शरीरके आन्तरिक तथा बाहरी परिवर्तन एवं सजावटमें तो ये इतने आगे बढ़े हुए हैं कि सौंदर्य-वृद्धिके नामपर अपने शरीरके ऊपर बड़े बड़े अत्याचार तक करते हैं। स्त्रियाँ एवं मर्द दोनों ही अपनी नाकके नथनेको छेदकर उसमें एक लंबीसी लकड़ी डाले रखते हैं, किसी किसी असभ्य जातिकी स्त्री अपने निचले होंठोंको छेदकर उसमें लकड़ी डाल डालकर इतना बढ़ाती है कि कभी कभी उसकी लम्बाई ५, ६, इंच तक पहुँच जाती है! अपने कानोंकी निचली लोरको भी ये लोग बढ़ाते हैं। कुछ लोग अपने बच्चोंके सिरको गोल बनानेके लिए जन्मते ही पट्टी बाँध देते हैं। कोई कोई मनुष्य अपने शरीरको गर्म लोहेसे दागकर उसमें ऊँचे नीचे निशान बनाते हैं और यह सब सौंदर्य-वृद्धिके लिए किया जाता है। कुछ लोग कौड़ी, घोंघा और छोटे छोटे कंकड़ोंको गूंथकर हार बनाते हैं। अपनी छाती, गला, बाँह, कलाई एवं पैरमें भी इन्हीं सबका

गहना बनाकर पहनते हैं। यह सब भी असभ्य लोगोंमें सौंदर्याभिव्यक्ति-का ही परिचायक है। इसी प्रकार यद्यपि इनमेंसे बहुतसी जातियोंमें, विशेष कर बौनों* में, भाषा नहीं होती फिर भी सबके सब नाचकर अपने भावको व्यक्त करते हैं।† गील महोदयने बौनोंकी एक जातिके विषयमें कहा है कि वे हंसने, गाने, प्रसन्न होने एवं नाचनेमें तथा निरंतर मज़ाक करनेमें बड़ी तत्परता दिखाते हैं। इसी प्रकार लेफ्टिनेण्ट कर्नल हैरिसन जो उनमें जाकर रहे थे कहते हैं कि "मैंने जंगली लोगोंके नाच तमाम संसारमें देखे हैं परन्तु इन छोटे लोटे लोगोंकी बराबरीका नाच कहीं नहीं देखा" अस्तु। हमारे कहनेका अभिप्राय थोड़ेमें यह है कि असभ्य लोगोंमें भी सभ्योंकी ही भाँति सौंदर्य-बोध पाया जाता है।

इसी प्रकार बालकोंमें भी सौंदर्य-बोधका बीज यथेष्ट परिमाणमें पाया जाता है। हमने पहले देखा है कि मनुष्य चार प्रकारसे अपने अन्दर वर्तमान सौंदर्यानुभवकी प्रवृत्तिको व्यक्त करता है। इसी बातको यदि हम और सूक्ष्म रूपसे देखें तो जान पड़ेगा कि मनुष्य स्पष्टतया तीन प्रकारसे अपने सौंदर्य-बोधको प्रकट करता है (१) बाह्य सौंदर्यको ग्रहण करके (२) अनुकरण करके एवं (३) सौंदर्य-सृष्टि करके। और ये तीनों बातें बालकोंमें पायी जाती हैं। चमकीले रंगोंको, सुन्दर चित्रोंको तथा अंकोंको देखकर एवं गाना, हार्मोनियम, सितार आदि वाद्ययन्त्रों, कविताओं, छन्दों तथा कथाओंको सुनकर बच्चा कितना प्रसन्न होता है, यह बात सभी जानते हैं। जब बच्चा रोने लगता है अथवा किसी ऐसी वस्तुके लिए आग्रह करता है जिसे उसके अभिभावक नहीं देना चाहते, तो उस समय उसके हाथमें कोई तसवीर देकर या उसे कोई गाना या बाजा सुनाकर हम उसके मनको दूसरी ओर आकर्षित कर लेते हैं। यही बच्चे

---

* Pigmies

† See 'The Origin and Evolution of Human Race' by Edward Churchward, Page 94.

में सौंदर्य-बोधका ग्रहणात्मक (रिसेप्टिव) रूप है। इसके बाद ही हम देखते हैं कि बच्चा इन बातोंका अनुकरण करने लगता है। वह पीछे पीछे दूसरोंके साथ गाता है, कथाएँ स्वयं कहता है, तमाशे करके दिखलाता है और नक़ल करने लगता है। किसी बच्चेके सामने कुछ देर तक हारमोनियम बजाकर रख दीजिये। फिर आप देखेंगे कि वह स्वय उसे बजानेकी चेष्टा करेगा। यह सौंदर्य-बोधका अनुकरणात्मक (इमिटेटिव) रूप है। अन्तमें बच्चा सौंदर्य-बोधके तीसरे रूप सृजनात्मक (क्रियेटिव) को भी प्रकट करने लगता है। यह गप्प मारनेमें, तत्काल कोई राग बनाकर गाने लगने एवं निरन्तर नये नये खेलोंके ढूँढ निकालनेमें बड़ी तत्परता दिखलाता है। बच्चेके हाथमें कोई पेंसिल और काग़ज़ दे दीजिये। आप देखेंगे कि वह शीघ्र ही उस काग़जके टुकड़ेको टेढ़ी मेढ़ी लकीरोंसे भर देगा। अत यह सब सृजनात्मक प्रवृत्तिकी ही अभिव्यक्ति है। भले ही बच्चेमें ये तीनों प्रकार स्पष्ट एव परिस्फुट न हों पर हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि बाल्य जीवनमें भी सौंदर्य-बोधका बीज वर्तमान है एव हम उसे वहीं अंकुरित होते भी देखते हैं।

अब रहे सभ्य मनुष्य। हम देखते हैं कि सौंदर्य-बोधका जो बीज बाल्य जीवनमें अंकुरित होता हुआ दिखाई पड़ता है, वह यहा पूर्णता को प्राप्त हो गया है। सभ्य जीवनमें सौंदर्यका जितना बड़ा महत्त्व है उतना किसी अन्य जीवनमें नहीं है। प्राचीन समयसे लेकर आजतक अपने मकानों एवं रहनेके स्थानोंको—इतना ही नहीं, अपने मठ-मंदिरों और मकबरों तकको सर्वांग-सुन्दर तथा मनोहर बनानेकी जो चेष्टा सभ्य मनुष्यने की है, उसी तरह आज जो मकानों एवं कोठियोंके नये नये नमूने एकसे एक बढ़कर तैयार हो रहे हैं वह सब हमारे सामने प्रत्यक्ष है। क्या यह सब प्रयास उपयोगके लिए किया गया है? मकान बनानेका विचार और कार्य तो आवश्यकता एवं उपयोगसे सबन्ध रख भी सकता है पर उस मकानको किसी विशेष ढगका तथा विशेष

विशेष चित्रों एवं रंगोंसे रंजित करने और सजानेका विचार तथा कार्य किस उपयोगितावादका परिणाम है ? इसी प्रकार सर्दी गर्मी आदिसे बचनेके लिए कपड़े बनानेका विचार तो हमारे लिए लाभदायक होनेसे उपादेय है पर आज जो ये नित्य नयी नयी चालके कपड़े, नित्य नये नये फैशन पेरिस आदिसे प्रचारित होते हैं, उनका क्या उपयोग है ? निश्चय ही यह सब हमारे सौंदर्य-बोधका परिचायक है। सभ्य मनुष्य असभ्योंकी भांति अपने शरीरकी सजावट बनावट आदि ही करके सन्तुष्ट नहीं रह जाता, बल्कि कला द्वारा भी सौंदर्य प्रकट करनेकी चेष्टा करता है।

कला (आर्ट) द्वारा मनुष्य दो बातें करता है—(१) बाह्य सौंदर्य को अनुकरण द्वारा व्यक्त करना, एवं (२) सौंदर्यकी सृष्टि करना। इन विषयोंपर हम आगे 'कलामें सौंदर्य' नामक अध्याय में सविस्तर विचार करेंगे। यहाँ हम केवल यही दिखाना चाहते हैं कि सभ्य मनुष्य सौंदर्याभिव्यक्तिकी चेष्टा ही नहीं प्रत्युत अपने आदर्शानुसार सौंदर्य-सृष्टि भी करता है।

हम लोग जब असभ्य लोगोंके विषयमें पुस्तकोंमें पढ़ते हैं कि वे अपनी नाकमें लकड़ी डालकर, होठोंको असाधारण रूपसे बढ़ाकर, कौड़ी एवं कंकड़ आदिकी माला पहनकर अपनी शोभा बढ़ाते हैं, तो उनकी मूर्खतापर हंसने लगते हैं, पर हम यह नहीं देखते कि ठीक उन्हीं लोगोंकी भांति हम भी सौंदर्यके फेरमें पड़कर अपने शरीरपर अत्याचार करते हैं। भारतवर्षमें अब भी अनेक स्त्रियाँ तथा पुरुष गोदना गोदवाते हैं, स्त्रियां नाक एवं कर्णफूल आदि गहने पहननेके लिए अपने नाक-कान छिदवाती हैं और कौड़ी-कंकड़ नहीं तो सोने चाँदी एवं मोतियों-के गहने और हार पहनती हैं। यही नहीं, आज सभ्य-शिरोमणि होनेका दम भरनेवाले योरपमें भी ऐसी वैज्ञानिक शालाएँ खुली हैं जहाँ लोग अपने नाक कान आदिको विशेष ढंगसे सुन्दर बनवानेके लिए जाते

हैं। ये लोग अपने अंगोंपर अत्याचार सहन करते हैं एवं इसके लिए प्रचुर धन व्यय करते हैं। यह सब क्यों होता है? बात यह है कि सौंदर्य से हमारा कुछ ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है, कुछ ऐसी आत्मीयता है कि हम उससे भाग नहीं सकते। हमारी सौंदर्यानुभूति इतनी बढ़ी हुई है कि वह रूप-रंगकी सीमाको भी पार कर गयी है। किसीको अच्छा भाषण करते सुनकर हम सहसा कह उठते हैं 'बड़ा ही सुन्दर भाषण है।' किसीके अच्छे चरित्रको, कल्याणकारक विचारको भी हम 'सुन्दर' की उपाधि दे डालते हैं मानों 'अच्छा' और 'सुन्दर' में हम कोई भेद ही नहीं रखते। आजकल तो हमारा सौंदर्य-बोधका क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि हम किसीको चातुरीसे झूठ बोलते, ठगते, चोरी करते एवं दूसरोंको मज़ाकमें बेवकूफ बनाते देखकर कहने लगते हैं कि अमुक व्यक्ति सुन्दर ढंगसे झूठ बोलता है या चोरी करता है इत्यादि। आजकल जो एक राज्यका प्रतिनिधि अथवा दूत दूसरे राज्यमें रहता है, उसमें यह एक विशेष गुण समझा जाता है कि वह न केवल झूठ बोल सके प्रत्युत सुन्दरतासे झूठ बोल सके। अस्तु, यदि हम सभ्य मनुष्यके सौंदर्यबोधके क्षेत्रको एक एक करके पूर्ण रूपेण दिखलाने लगें तो ग्रन्थका कलेवर बढ़ जायगा, अतएव उपर्युक्त थोड़ी सी बातें ही बताकर हमें सन्तोष करना पड़ता है।

विस्तारकी आवश्यकता भी नहीं है। ये सब बातें तो हमारे दिन रातके अनुभवमें आती ही रहती हैं। उनकी ओर संकेत कर देना ही काफ़ी है। सौंदर्यका केवल हमारे साधारण जीवनसे ही सम्बन्ध नहीं है। इसने तो हमारे धार्मिक जीवनपर भी सिक्का जमा रखा है। हमारे भारतवर्षके वैष्णव सम्प्रदायमें, भिन्न भिन्न भक्ति-मार्गोंमें, तथा ईसाइयोंके रोमन कैथलिक सम्प्रदायमें सौंदर्यका बहुत बड़ा स्थान है। वैष्णव लोगोंका कृष्ण एवं राधाका रूप वर्णन करनेमें अपनी सारी वाग्मिता एवं कल्पना-शक्तिको लगा देना, कृष्ण, राम आदि अपने आराध्य देवोंकी

मूर्तियोंको भाँति भाँतिके वस्त्र एवं आभूषणोंसे सजाना आदि इसी प्रकृतिका द्योतक है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नदी, नाले, पहाड़, पत्थर-आकाश पाताल, सूर्य, चन्द्र, तारागण, वृक्ष, फल, फूल आदि एवं पशु, पक्षी, सभ्य, असभ्य, बालक, युवा, वृद्ध, नर, नारी सब में सौंदर्य व्याप्त है। जीवनका कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जहाँ सौंदर्यका साम्राज्य न हो। सदियाँ बीत गयीं, बड़े बड़े राज्य नष्ट हुए एवं बने, पृथ्वीपर असंख्य प्राणी उत्पन्न एवं नष्ट हुए पर किसीने इस सौंदर्यसे विद्रोह करनेका साहस नहीं किया। सबमें यह सौंदर्य किसी न किसी रूपमें वर्तमान रहा है तथा अब भी वर्तमान है। साराश यह कि जीवनमें सौंदर्यका बहुत बड़ा स्थान है।

अब हम आगेके अध्यायोंमें सौंदर्यकी मीमांसा करके उसके तात्त्विक स्वरूपको पाठकोंके सम्मुख रखनेकी चेष्टा करेंगे।

दूसरा अध्याय

सौंदर्यका स्वरूप

(वैज्ञानिकोंका मत)

प्रथम अध्यायमें हमने सौंदर्यबोधकी स्वाभाविकता एवं उसका सार्वभौमिकत्व दिखलानेका प्रयत्न किया है, यद्यपि डारविन प्रभृति कुछ विकासवादी पाश्चात्य वैज्ञानिक सौंदर्य-स्पृहा एवं सौंदर्याभिव्यक्तिको स्वाभाविक नहीं मानते। डारविनका कहना है कि "सौंदर्याभिव्यक्ति यौन निर्वाचनसे उत्पन्न होती है। मयूरीका सौंदर्यके प्रति अनुराग है, इसलिये मयूर सुन्दर होता है। पुरुषका स्त्रीके प्रति स्वाभाविक अनुराग

होता है इसलिये स्त्रियाँ सौंदर्यकी अधिकारिणी होती हैं।" पर य
स्पष्ट है कि यौननिर्वाचनके सिद्धान्तसे सौंदर्य-स्पृहाका स्वाभाविक
नष्ट नहीं होता। आखिर डारविन महोदय मयूरीमें अथवा मनुष्य
सौंदर्यके प्रति स्वाभाविक अनुराग तो मानते ही हैं। दूसरी बात यह
कि यदि थोड़ी देरके लिए मान भी लिया जाय कि यौननिर्वाचन
सौंदर्यका कारण है, तो फिर मयूरका रूप एवं नाचना, निर्जन वनमें
खिले हुए फूलपर भौंरेका बैठना, पक्षियोंका सुन्दर स्वरमें गाना आदि
मनुष्यको क्यों अलौकिक आनन्द देते हैं? मनुष्य इन्हें सुन्दर क्यों
कहता है? कोई कोई वैज्ञानिक इसे विकासका आकस्मिक आगन्तुक फल
(बाईप्राडक्ट आफ इवल्यूशन) कहते हैं। उनका कथन है कि प्राकृतिक
निर्वाचन (नेचुरल सिलेक्शनज) में जीवन-रक्षाके लिए उत्पन्न होने-
वाले अनेक अनुकूल धर्मोंके साथ साथ दो एक ऐसे धर्म भी उत्पन्न हो
जाते हैं जिनका जीवन-रक्षामें कुछ उपयोग नहीं है। इसी प्रकारके
धर्मोंमेंसे एक धर्म सौंदर्य-स्पृहा भी है।

इन थोड़ेसे इटी एवं सब दृश्य बातोंको अपने विकासवादके सिद्धा
न्तके अन्दर लानेका दुराग्रह करनेवाले पंडितोंको छोड़कर बाकी सभी
दार्शनिक तथा वैज्ञानिक सौंदर्य स्पृहाकी स्वाभाविकताको स्वीकार करते
हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि जो सौंदर्य जीवनमें इतना महत्वपूर्ण
स्थान रखता है, जिसकी सत्ताके सामने सभी सिर झुकाते हैं, वह
तत्वतः है क्या चीज? हम क्यों किसी वस्तुको सुन्दर कहते हैं? सुन्दर
कही जानेवाली वस्तुओंमें कोई उनका अपना गुण होता है जिसे देखकर
हम उसे सुन्दरकी उपाधि देते हैं अथवा सौंदर्य वस्तु व्यतिरिक्त कोई
और ही चीज है? इत्यादि। अत. अब आगे हम सौंदर्यके तात्विक
रूपकी खोज करनेकी चेष्टा करेंगे।

पर प्रथम इसके कि हम सौंदर्य विषयक अपना सिद्धान्त लिखें,
यह उचित प्रतीत होता है कि हम यह दिखलानेका यत्न करें कि साधा-

रण लोग जिस वस्तुको सुन्दर कहते हैं, उससे उनका अभिप्राय क्या होता है; वे वस्तुओंमें किन किन बातोंको देखकर उन्हें सुन्दर कहते हैं। तदुपरान्त हम उन पाश्चात्य एवं पूर्वीय दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकोंका मत पाठकोंके सामने रखेंगे, जिन्होंने सौंदर्यकी खोज एवं व्याख्या की है, क्योंकि ऐसा करनेसे हम जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करना चाहते हैं उसके पूर्णतया समझनेमें सहायता मिलेगी और तभी हमारे सिद्धान्त-की सार्वभौमिकता समझ पड़ेगी।

साधारण लोग जिन वस्तुओंको अथवा दृश्योंको सुन्दर कहते हैं उनका यदि हम विश्लेषण करें तो मालूम होगा कि वे लोग ऐसी ही वस्तुओंको सुन्दर कहते हैं जिनमें उन्हें अनेकतामें एकत्व (यूनिटी इन वैराइटी), सामञ्जस्य (हारमनी), अनन्तत्व (इनफिनिटी), अनुपात (प्रपोरशन), शुद्धता (प्यूरिटी), आरोह-अवरोह (रिथ्म), सममा-त्रुय्य (सिमेट्री), सुचारु विन्यास (आर्डर), उपयुक्तता (फिटनेस), भव्यता (सब्लिमिटी) आदि कुछ बाह्य गुण दिखाई पड़ते हैं। भले ही वे किसी वैज्ञानिककी भाँति इन उपर्युक्त शब्दोंमें न कह सकते हों पर यदि किसीसे पूछा जाय कि सितारकी बोली तुम्हें क्यों सुन्दर लगती है, तो वह यही कहेगा कि उसमेंसे जो राग निकल रहा है उसमें माधुर्य है, क्योंकि सब स्वर मिलकर एक राग पैदा कर रहे हैं जो कानोंको अच्छा लगता है। इसी प्रकार यदि किसीसे पूछा जाय कि अमुक व्यक्तिको तुम सुन्दर क्यों कहते हो, तो वह यही उत्तर देगा कि उसका प्रत्येक अंग सुगठित एवं सुडौल है, किसी भी अंगमें कोई न्यूनता नहीं है; इत्यादि। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैज्ञानिक पंडितोंने सुन्दर वस्तुओंका विश्ले-षण करके जिन बातोंको ढूँढ़ निकाला है वे ही बातें सर्व-साधारणके भी ध्यानमें उस समय रहती हैं जब कि वे किसीको सुन्दर कहते हैं; हाँ इतना अवश्य है कि वे उन पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग नहीं करते।

यहाँपर एक बात और ध्यान देने योग्य है कि सर्वसाधारण एवं

विद्वानोंमें तथा विद्वान्-विद्वान्में भी प्राकृतिक दृश्योंके बारेमें बहुत कम मतभेद है। हाँ, मनुष्यके विषयमें एवं मनुष्य कृत वस्तुओंके विषयमें परस्पर बड़ा मतभेद है। कलाके विषयमें, मनुष्यकी सुन्दरताके विषयमें प्रायः लोगोंके भिन्न भिन्न मत हैं और जुदा जुदा कसौटियाँ हैं, जिनके द्वारा वे उनकी सुन्दरताकी जाँच करते हैं। इसका कारण संस्कार, पक्ष-पात एवं रीति-रस्म जान पड़ता है और कदाचित् इस बातको न समझनेके कारण ही कुछ पाश्चात्य विद्वान् संस्कार तथा रीति-रस्म (कस्टम) को ही सौंदर्य-बोधका कारण मानते हैं।

अब हम उन विद्वानोंका मत रखेंगे जिन्होंने वैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टिसे सौंदर्यकी मीमांसा की है। प्राचीन कालसे लेकर अब तक पंडितोंने इस विषयकी अनेक गवेषणाएँ की हैं और इन्हींके फल स्वरूप सौंदर्य-विज्ञानकी सृष्टि हुई है। सौंदर्य-विषयक खोज करनेवाले विद्वानोंको हम साधारणतया दो भागोंमें विभाजित कर सकते हैं (१) वैज्ञानिक एवं अध्यात्मवादी। इन्हीं दो दृष्टियोंसे विद्वानोंने इस विषयकी मीमांसा की है। अध्यात्मवादी इन्द्रियातीत वस्तुका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि जड़ पदार्थोंका अपना कोई सौंदर्य नहीं। कोई अतीन्द्रिय वस्तु इन पदार्थोंमेंसे प्रतिभासित होती है, इसीलिए भौतिक दृश्य सुन्दर दिखाई पड़ते हैं। वह अतीन्द्रिय वस्तु क्या है, इस विषयमें यद्यपि उन विद्वानोंमें परस्पर बड़ा मतभेद है, पर इतना सभी मानते हैं कि वस्तुओंमें निजकी सुन्दरता नहीं है। पक्षान्तरमें वैज्ञानिक लोग ईथर (आकाश) को छोड़कर और कोई अतीन्द्रिय पदार्थ नहीं मानते। उनके मतमें सत्यकी प्राप्तिके लिए प्रत्यक्ष ज्ञान ही एकमात्र उपाय है। वे सुन्दर कही जानेवाली वस्तुओंके विश्लेषण द्वारा ही सौन्दर्यके मूल तत्वका निर्णय करनेकी चेष्टा करते हैं। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो सौन्दर्यको दो तीन कोटियोंमें विभाजित करते हैं। वे ईश्वर, जीव, एवं प्रकृतिमें भिन्न भिन्न सौन्दर्य मानते हैं। अस्तु, इस अध्यायमें हम उन वैज्ञानिकों एवं

ललित कलाविदोंके मतोंको संक्षेपमें दिखलायेंगे जो वस्तुगत सौंदर्य मानते हैं अथवा सौंदर्य-बोधको अन्तःकरणका एक धर्म मानते हैं। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि यद्यपि हमने इस प्रकार वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक भेदसे दो श्रेणियाँ बनायी हैं पर वस्तुतः केवल सुविधाके लिये ही ऐसा किया है। आध्यात्मिक सिद्धान्तवाले विद्वानोंमें भी लगभग सभी अनेकतामें एकता, सममातृत्व, अनुपात आदि गुणोंको वस्तुओंमें मानते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि ये लोग इन्हीं गुणोंको सौंदर्य नहीं मानते बल्कि इन्हें सौंदर्यानुभवमें सहायक मानते हैं। पक्षान्तरमें वैज्ञानिक एवं कलाविद् (आर्टिस्ट्स) विद्वानोंमें भी कुछ ऐसे हैं जो सौंदर्यको वस्तुगत नहीं मानते, प्रत्युत उसे सहज ज्ञान (इनटुइशन) अर्थात् बुद्धिका धर्म मानते हैं पर उनमें अधिकांशका झुकाव वस्तुगत बाह्य गुणोंकी ही ओर है। इसीलिये हमने ये दो ही भेद किये हैं। सुविधाकी दृष्टिसे स्थूल सिद्धान्तवाले एवं सूक्ष्म सिद्धान्तवाले इन दो मतोंका प्रतिपादन हम क्रमसे इस अध्यायमें एवं अगले अध्यायमें करेंगे। एक बात और है और वह यह कि हम इन दो अध्यायोंमें संक्षिप्त रूपसे दूसरे विद्वानोंके मतोंकी चर्चा मात्र करेंगे। उनके खण्डन-मण्डनमें न पड़ेंगे और न हम इन विद्वानोंको ऐतिहासिक दृष्टिसे काल क्रमके अनुसार विभाजित करेंगे। यह कार्य तो किसी 'सौंदर्यका इतिहास' नामक ग्रन्थमें हो सकता है। हमने तो विचार-गुरुताके अनुसार ही इनका विभाग किया है।

(१) अरस्तू

पश्चिमके प्राचीन विद्वानोंमें यूनान देश निवासी प्लेटोके शिष्य अरस्तू नामक प्रसिद्ध विद्वान्ने सर्वप्रथम विश्लेषण प्रणाली द्वारा सौंदर्य का मूल ढूँढनेका प्रयत्न किया। उन्होंने न्याय, अध्यात्म, मनोविज्ञान, नीतिविज्ञान, राजनीति एवं कवित्वकला आदिपर पृथक् पृथक् ग्रन्थकी

रचना की है, पर सौंदर्य विज्ञानपर कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं लिखा फिर भी कविता, अध्यात्म एवं राजनीति सम्बन्धी अपने ग्रन्थोंमें उन्होंने सौंदर्यपर विचार प्रकट किये हैं। वे अपने गुरुकी भांति निरपेक्ष सौंद (एबसोल्यूट ब्यूटी) का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। वे विश्लेष (एनालिसिस) की प्रणाली द्वारा ही सब बातोंकी मीमांसा करते हैं। 'शिव' (गुड) और 'सुन्दर'को एक नहीं समझते जैसा कि प्लेटोने मान है। उनका कहना है कि शिवका अनुभव हमें गतिकी अवस्थामें (इ ए स्टेट आफ मोशन) होता है पर 'सुन्दर' तो स्थिति (रिपोज़) में, शान्त जीवनमें अर्थात् वास्तविक शान्तिकी अवस्थामें भी रह सकता है।

उन्होंने 'सुन्दर' और 'उपयुक्त' में भी भेद माना है। सर्व प्रथ उन्होंने इस बातको दिखलानेका प्रयत्न किया है कि सौंदर्यानुभवमें हमें जो आनन्द होता है वह 'निष्काम आनन्द' है। उनका कहना है कि सुन्दर वस्तुओंको देखते समय हमें उनके संग्रहकी इच्छा नहीं रहती। उनका यह इन्द्रिय ग्राह्य विषय जन्य आनन्द एवं सौंदर्यानुभव जन्य आनन्दका भेद सौंदर्य शास्त्रकी दृष्टिसे बड़े महत्वका है। बादके लगभग सभी विद्वानोंने यह मान लिया है कि सौंदर्य-जन्य आनन्द निष्काम होता है। उन्होंने सममातृत्व (सिमेट्री), सुचारु विन्यास (आर्डरली अरेञ्जमेण्ट) और परिमित आयतन (सर्टेन मेग्निच्यूड) को 'सौंदर्य' का अंग माना है। उनका कहना है कि वस्तु न इतनी छोटी ही होनी चाहिये, जिससे वह दिखाई ही न पड़े और न इतनी बड़ी ही होनी चाहिये कि वह सम्यग्रूपेण इन्द्रिय ग्राह्य न हो सके। सारांश यह कि अरस्तूने वैज्ञानिक ढगसे सौंदर्यकी आलोचना की है पर सौंदर्य मूलत क्या है—इसका निपटारा करनेका उन्होंने कोई प्रयास नहीं किया।

अरस्तूके बाद जिन विद्वानोंने वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा सौंदर्यकी मीमांसा की है उनमें अधिकतर फ्रांसीसी और शेष प्राय सभी अंग्रेज वैज्ञानिक हैं जिनमें से प्रधान प्रधानके मत यहां देनेकी हम चेष्टा करेंगे।

(२) पीयर बफियर *

बफियरका कहना है कि प्राणियोंकी प्रत्येक जाति (स्पीसीज़) का सुन्दरताका एक एक आदर्श है। जो वस्तु जिस परिमाणमें इस आदर्शके अनुरूप प्रथित होगी, उसी परिमाणमें वह सुन्दर होगी। उन्होंने मनुष्यके मुखका उदाहरण देकर कहा है कि 'अगणित प्रकारके मुखोंमें केवल एक ही मुख पूर्णतया सुन्दर होता है, शेष सब उसीके नमूनेपर बने होते हैं। ५० मुखोंमें केवल एक ही पूर्णतया सुन्दर होता है पर शेष ४९ में से दूसरा कोई ऐसा न होगा जिसका अनुकरण बाकी ४८ मुख करेंगे बल्कि सभी उसी एकके नमूनेपर बने होंगे। इसी प्रकार और भी अगों एव उपागोंको समझना चाहिये।" अपने सिद्धान्तकी पुष्टि करनेके लिए उन्होंने उन लोगोंका खण्डन किया है जो अनुपातमें सौंदर्य मानते हैं। उनका कहना है कि यदि अनुपातमें सौंदर्य मानें तो फिर यह कठिनाई होगी कि अनुपातका क्या आधार (स्टैंडर्ड) होगा? अन्तमें उन्होंने कहा है कि अभी तक 'सौंदर्य मूलत क्या है' इसका पता किसीको नहीं है पर "यदि सौंदर्य वास्तवमें कुछ हो तो वह वही होगा जो सब जातियोंमें सामान्य रूपसे पाया जाता हो।" †

(३) डिडेरो ‡

डिडेरोका कहना है कि "सम्बन्ध-बोध पर ही सौंदर्य सम्पूर्ण रूपेण निर्भर करता है।" × सुन्दर वस्तुके अग प्रत्यग परस्पर एक सूत्रमें प्रथित रहते हैं अत सुन्दर वस्तुके अग प्रत्यगोंका सम्बन्धबोध ही सौंदर्य है। इस सबध-बोधको निकाल देनेसे वस्तुओंका सौंदर्य नष्ट हो जाता है। पर जिस

---

* Pere Buffier

† If there be a true beauty, it must be that which is common to all nations '

‡ Diderot

× Beauty consists in the perception of relations

सम्बन्धके कारण एक वस्तु दूसरेसे सुन्दर एवं एक ही वस्तु विभिन्न लोगों के लिए भिन्न भिन्न अवसरोंपर सुन्दर या असुन्दर प्रतीत होती है, उसकी कोई मीमांसा उन्होंने नहीं की है। डिडेरोका महत्व सौंदर्य विषयक सिद्धान्तके लिए उतना नहीं है जितना कला-समालोचकके रूपमें है। वे कला-समालोचनामें अधिक सफल हुए हैं।

(४) सर जे० रेनाल्ड्स

इन्होंने बहुत अंशोंमें 'बफियर'के सिद्धान्तको ग्रहण किया है। इनका कहना है कि प्रत्येक जीव एव वनस्पतिका एक एक निश्चित रूप है जिसकी ओर प्रकृति निरन्तर बढ़ रही है अर्थात् प्रकृतिके सम्मुख 'सुन्दर' का एक लक्ष्य है जिसके लिए वह सदा यत्नवान् है। आगे चल कर वे कहते हैं "हमें अभ्यास पड़ गया है इसीलिये हम 'सौन्दर्य' की प्रशंसा करते हैं।"* वे और भी कहते हैं कि "मुझे इसमें तनिक भी शंका नहीं है कि यदि हमें असुन्दरका ही 'सुन्दर' की अपेक्षा अधिक अभ्यास होता तो जिन वस्तुओंको हम आज असुन्दर कहते हैं उन्हें ही हम अधिक पसन्द करते, जैसे यदि सारा संसार इस बातपर सहमत हो जाय कि 'हां' और 'ना' का अर्थ बदलकर ठीक उल्टा कर दिया जाय तो फिर 'हां'से असहमति एवं 'ना' से 'सहमति' का बोध होने लगेगा।" इसीलिये वे कहते हैं कि 'सुन्दर वही है जो व्यक्तिगत आकृति तथा प्रभेद, स्थानीय प्रथा ,एवं विशेषत्वपर अवस्थित है।' कुछ हेर फेरसे इसी प्रथा (कस्टम) एव 'आदत' (हैबिट) के सिद्धान्तको लार्ड केम्स, वेलियम शेनस्टोन एवं इब्राहिम टकर† आदि विद्वान् मानते हैं, अत उनके विषयमें अलग लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

---

* We admire Beauty for no other reason than that we are used to it"

† Lord Kames, William Shenstone, Abraham Tucher

(५) होगार्थ

होगार्थने अपने 'सौन्दर्यका विश्लेषण' (एनालिसिस आफ ब्यूटी) नामक ग्रन्थमें दृश्य सौन्दर्य एवं वर्ण (कलर) के सम्बन्धमें विशेष पर्यालोचन किया है। उनका कहना है कि दृश्य सौन्दर्य निम्नलिखित कई बातोंपर निर्भर करता है—

(१) किसी वस्तुके अगोंकी अपने उद्देश्य साधनकी क्षमता, जैसे मनुष्यकी आँखमें देखनेकी क्षमताका होना। हस्त, पादादि भी इसीलिये सुन्दर होते हैं कि वे मनुष्य जीवनके उद्देश्य-साधनोपयोगी होते हैं। उनके मतसे अनुपात (प्रपोरशन) और क्षमता (फिटनेस) एक ही बात है।

(२) वैचित्र्य (वैराइटी), रूप एव रङ्गमें विचित्रता इन्द्रियोंको अच्छी लगती है।

(३) सममातृता (सिमेट्री या यूनीफार्मिटी), पर सममातृता (दोनों ओरके अगोंका समानरूप रङ्गमें गठित होना) उसी अवस्थामें 'सुन्दर' होती है जब उससे 'क्षमता' का भाव नष्ट न होता हो।

(४) सहजबोधगम्यता या स्पष्टता (सिमप्लिसिटी या डिस्टिंक्टनेस)। पर यदि सादगीमें वैचित्र्य न हो तो वह बिल्कुल फीकी होती है अर्थात् सादगी तभी सुन्दर होती है जब उसमें वैचित्र्य हो और वह अनायास चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ग्रहण की जा सके।

(५) दुरूहता (इन्ट्रिकेसी)। जिस वस्तुमें जितनी अधिक दुरूहता (पेचीदगी) होगी वह उतनी ही अधिक सुन्दर होगी, क्योंकि उसकी दुरूहता-भेदनमें चक्षुको बड़ा परिश्रम करना पड़ेगा। इसीलिये नदियोंकी सर्पाकार गति या बहुत घुमाव फिराववाले रास्ते देखकर हम प्रसन्न होते हैं।

(६) आयतन (क्वानटिटी या मैग्निट्यूड)। वस्तुओंका वृहत्त्व हमारे मनमें विस्मय एव प्रीति उत्पन्न करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त छ उपादानोंको होगार्थ सौन्दर्यका कारण मानते हैं। उक्त उपादान जिस वस्तुमें जितने परिमाणमें होंगे, वह उसी परिमाणमें सुन्दर होगी। होगार्थके मतसे वक्ररेखा 'सौन्दर्यकी रेखा' है। उन्होंने इस रेखाकी बड़ी प्रशंसा की है। विश्लेषण प्रणाली द्वारा एवं इन्हीं छ मूल उपादानों द्वारा होगार्थने रेखा, रूप, रङ्ग एवं क्रिया (प्रकाश) के सौन्दर्यकी मीमांसा की है।

(६) बर्क

प्रख्यात राजनीतिज्ञ बर्कके मतसे 'सौंदर्य'के निम्नलिखित उपादान हैं। (१) आकृतिकी क्षुद्रता [स्मालनेस आफ साइज़], (२) मसृणता [स्मूथनेस], (३) क्रमिक परिवर्तन [ग्रेजुअल वैरियेशन], (४) कोमलता [डेलिकेसी], (५) वर्णकी उज्वलता [ब्राइटनेस आफ कलर्स], (६) शुद्धता [प्यूरिटी]। उनका कहना है कि "मसृणता वस्तुओंके सौंदर्यमें इतना महत्वपूर्ण स्थान रखती है कि कोई वस्तु मसृण हो पर सुन्दर न हो, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।" उनके मतसे प्रत्येक सुन्दर वस्तु स्नायु समूहमें घुसकर शैथिल्य सम्पादित करनेकी शक्ति रखती है। उन्होंने मसृणता, कोमलता एवं सौंदर्यमें अभेद प्रतिपादित किया है। उन्होंने मधुरताको रसनाका, कोमल स्वरको श्रोत्रका एवं कोमल वस्तुको स्पर्शेन्द्रियका सौंदर्य माना है। उनके मतसे वृक्ष एवं पुष्पोंके कोमल दल, समतल सुचिक्कन भूमि, कलनिनादिनी सरिता, कोमल रोमावृत पशु एवं पक्षी, स्त्रियोंका कोमल शरीर इसीलिये सुन्दर कहलाते हैं कि उनमें कोमलत्व है। उन्होंने अपने 'भव्य एवं सुन्दर'* नामक लेखमें बड़े सुन्दर ढगसे 'भव्य' तथा 'सुन्दर' का भेद दिखलाया है। कई विद्वानोंका मत है कि उनका सिद्धान्त एकदेशीय है। स्टूअर्टने तो यहाँ तक कहा है कि बर्कका सौंदर्य 'वनिता सौंदर्य' है!

* Essay on the Sublime and Beautiful

(७) एलिसन *

एलिसन वस्तुगत सौंदर्य नहीं मानते। वे साहचर्य नियम (ला ऑफ असोसियेशन) को ही सौंदर्य बोधका कारण मानते हैं। उनका कहना है कि हमारे मनमें अनेक सुखकर अनुभव संचित हैं जो एक एक दल बनाकर एक दूसरेसे सम्बद्ध रहते हैं। जब हम किसी वस्तुको सुन्दर कहकर आनन्दित होते हैं तो उस समय यही होता है कि उस वस्तुके देखनेसे हमारे मनके अन्दरका कोई सुखकर भाव जागृत हो जाता है और इस प्रकार हम आनन्दित होते हैं। वस्तु तो केवल हमारी वृत्तियोंको जागृत कर देती है। उन्होंने इसके लिए बहुतसे स्थानीय एवं ऐतिहासिक दृश्योंका उदाहरण देकर अपने मतकी पुष्टि की है। उनका कहना है कि जब हम किसी प्राचीन दुर्गको देखते हैं तो हमें फौरन प्राचीन समयमें उस दुर्गमें रहनेवालोंकी एव उसमें हुए युद्धोंकी स्मृति हो आती है और इस प्रकार हमें वहाँ सौंदर्य दिखाई पड़ने लगता है। वास्तवमें उस दुर्गमें कोई निजका सौंदर्य नहीं है। साराश यह कि एलिसन महोदय वर्ण, आकृति एव गतिमें कोई मौलिक सौंदर्य स्वीकार नहीं करते। पर सौंदर्य तत्वत' है क्या, इसकी कोई उल्लेख योग्य मीमांसा उन्होंने नहीं की है।

लार्ड जेफ्रे महोदयने भी अपने 'सौंदर्य' नामक लेखमें एलिसनके ही मतका प्रतिपादन किया है। उनका भी यही कहना है कि 'साहचर्य नियम' द्वारा हमारे मनके सुखकर एवं आराम देनेवाली अनुभव राशि-के उदय होनेपर ही हमारा सौंदर्य बोध सम्पूर्णरूपेण आश्रित है। अत. उनके मतको अलग लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

(८) प्रोफेसर बेन

बेन भी 'सुन्दरता' को वस्तुओंमें स्थित कोई साधारण गुण नहीं

---

* Alison

मानते। उनका कहना है कि सौंदर्य-तत्वका निर्णय करनेके लिए हमें कलापर दृष्टिपात करना होगा। कलामें हमें तीन बातें विशेष रूपसे देख पड़ती हैं। (१) आनन्दके लिए आनन्द ही कलाका एक मात्र उद्देश्य है (२) कलाके आनन्दमें कोई अप्रीतिकर उपकरण नहीं होता (३) कलाके आनन्दका बहुत लोग एक साथ उपभोग कर सकते हैं। सौंदर्य-का स्रोत वस्तुके किसी एक गुण-विशेषमें नहीं बल्कि गुण समूहमें है। चक्षु एवं कर्णको ही ये सौंदर्यकी इन्द्रियाँ मानते हैं। उनके मतसे कला द्वारा प्राप्त आनन्दके विश्लेषणमें चार बातें ज्ञात होती हैं—(१) चक्षु एवं कर्ण द्वारा लब्ध मौलिक अनुभव राशि, (२) वृत्ति-साहचर्य नियम द्वारा अन्यांन्य सुखदायक अनुभवोंका उद्दीपन (३) अन्य मानसिक भावों ('इमोशन्स'), जैसे आश्चर्य आदि, का उद्दीपन (४) सामञ्जस्य अथवा बहुत्वमें एकत्व द्वारा उत्पन्न आनन्द। इस प्रकार उन्होंने दिखलाया है कि "मौलिक अनुभव राशि साहचर्य नियम द्वारा विशेष भावसे संयुक्त एवं परिवर्तित होकर सौंदर्य-ज्ञानकी उत्पत्ति करती है। उनके मतसे भी सौंदर्य जन्य आनन्द शुद्ध एवं निष्काम होता है।

(९) डाक्टर सली

सलीने कुछ हेर फेरसे बेनके सिद्धान्तको ही प्रतिपादित किया है। उनके मतसे सौंदर्यमें निम्नलिखित तीन उपकरण-समूह हैं—(१) इन्द्रिय ग्राह्य उपकरण (सेन्सुअस एलेमेण्ट). इन्द्रिय-द्वारसे लब्ध अनुभव-राशिका आनन्द ही सौंदर्यका इन्द्रिय-ग्राह्य उपकरण है। उनका कहना है कि वर्ण, स्वर एवं कोमलत्व प्रभृति अनुभव-राशिका आनन्द सौंदर्यके उपकरण हैं, यह किसी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ये उपकरण-समूह ही समस्त श्रेणीके सौंदर्यज आनन्दकी भित्ति हैं।*

* The sensuous effect is the basis of all aesthetic enjoyment (Vide Sully's Outlines of Psychology)

(२) गठन सम्बन्धी उपकरण (रिलेशनल या फार्मल एलेमेण्ट)। इन्द्रियग्राह्य उपकरण समूहका यथायोग्य सन्निवेश ही सौंदर्यकी आकृति (फार्म) है। आकृतिका सौंदर्य वैचित्र्यमें एकत्वपर निर्भर करता है। ताज महलका सौंदर्य, स्वर-संयोग एवं वर्ण-संयोगका सौंदर्य, आकृति सम्बन्धी सौंदर्यके उदाहरण हैं। पूर्व-कथित दोनों उपकरण मुख्य (डाइरेक्ट) हैं। इनके अतिरिक्त एक गौण (इनडाइरेक्ट) उपकरण भी है जिसे 'सहचार सम्बन्धी उपकरण' * कहते हैं। नार्मन दुर्ग का उदाहरण देकर उन्होंने लिखा है कि 'उसके भग्नावशेषके सौंदर्यका अनुभव करते समय हमारे मनमें अनेक भाव उत्पन्न होते हैं, कभी उसके प्राचीन गौरव एवं शक्तिका ध्यान आता है तो कभी उसके धीरे धीरे काल कवलित होनेका।" अर्थात् उसका सौंदर्य अनेक परिमाणमें इन्हीं भावोंके उद्दीपनकी क्षमतापर निर्भर करता है। इस प्रकार डाक्टर सलीने तीन प्रकारका सौंदर्य माना है (१) इन्द्रिय ग्राह्य सौंदर्य,† (२) आकृति जन्य सौंदर्य ‡ और (३) अभिव्यक्ति या अभिप्राय जन्य सौंदर्य ×, पर तत्वतः सौंदर्य क्या है, इसकी कोई उचित विवेचना वे नहीं कर सके हैं।

(९) हर्बर्ट स्पेन्सर

प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक स्पेन्सरने अपने विकासवादके सिद्धान्त द्वारा ही सौंदर्यकी मीमांसा की है। जर्मन दार्शनिक शिलरकी भाँति उन्होंने भी सौंदर्यानुभूति जन्य आनन्दमें और क्रीडामें सम्बन्ध दिखलाया है। उनका कहना है कि मनुष्य आदिम अवस्थामें अपनी समस्त वृत्तियों-

---

* Associative Element

† Sensuous Beauty.

‡ Beauty of form

× Beauty of expression or meaning.

का व्यवहार नहीं जानता, अतएव उसकी शक्ति सचित रहती है। पर शक्तिका प्रकाश अवश्यम्भावी है। मनोवृत्तिके व्यवहारसे आनन्द उत्पन्न होता है और यही आनन्द साहचर्य-नियमानुसार अनेक प्रकारसे संयुक्त एवं परिवर्तित होकर सौंदर्यज आनन्द रूपमें परिणत होता है। इन्होंने भी सौंदर्यानुभव जन्य आनन्द एवं क्रीड़ाके आनन्दको निर्दोष माना है। इन्होंने सौंदर्यसे उत्पन्न आनन्दको तीन भागोंमें विभाजित किया है— (१) स्वर, वर्ण आदिके अनुभवसे उत्पन्न आनन्द (२) स्वर-संयोग, वर्ण-संयोग आदिके अनुभवसे सम्भूत आनन्द, एवं (३) सुन्दर वस्तुओं द्वारा विविध रसोंके मानसिक उपभोगसे उत्पन्न आनन्द। इनका कहना है कि प्रकृत सौंदर्य-स्पृहा (ईस्थेटिक सेण्टीमेण्ट आपर) व्यक्तिगत एवं जातीय जीवनका अनेक शताब्दियोंके क्रम-विकासका फल मात्र है। हमारे अनुभव (सेन्सेशन), बोध (परसेपशन) और भाव (इमोशन) जितने ही पूर्णतम एवं आनन्ददायक कार्योंमें रत होते हैं, उतने ही अधिक परिमाणमें हम सौंदर्य सम्भूत आनन्दका उपभोग करनेमें समर्थ होते हैं। स्पेन्सरके मतमें कुछ मौलिकता अवश्य है पर इससे सौंदर्यका सात्विक रूप समझनेमें हमें अधिक सहायता नहीं मिलती।

(१०) डूगल्ड स्टूअर्ट

इन्होंने एलिसन, जेफ्रे आदि द्वारा प्रचारित साहचर्य नियमका बड़ी योग्यतासे खण्डन किया है। इनका कहना है कि साहचर्य नियम वर्ण, आकृति एवं गतिके सौंदर्यबोधमें तो सहायता अवश्य करता है किन्तु इनका सौंदर्य साहचर्य नियम द्वारा नहीं पैदा होता। इन्होंने वर्ण, आकृति एवं गतिके सौंदर्यकी मौलिकता स्वीकार की है। होगार्थकी भांति ये भी वक्ररेखाकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। इन्होंने सुन्दर वस्तुमें श्रृंखला, उपयोगिता और क्षमता * का होना स्वीकार किया है एवं इन्हीं बातों

* Fitness.

द्वारा साहचर्य नियमवादियोंका खण्डन किया है। ये कहते हैं कि 'दृश्य वस्तुको सौंदर्यका कारण न मानने पर भी उसे सौंदर्यका उपलक्ष्य तो मानना ही पड़ेगा। समस्त सुन्दर वस्तुएँ विशुद्ध आनन्द देती हैं अतः एव यह कहा जा सकता है कि विशुद्ध आनन्द-प्रदानके व्यतिरिक्त सुन्दर वस्तुओंका और कोई साधारण गुण नहीं है। इनका यह भी कहना है कि पृथ्वीके प्रारम्भ-कालसे ही वर्णके साथ सौंदर्यका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

(११) रिचर्ड प्राइस

इन्होंने (१) सुडौलता [यूनीफार्मिटी] (२) वैचित्र्य (३) सुश्रृंखला [आर्डर] (४) सममातृत्वको सौंदर्यका कारण माना है। आदिके दो परस्पर सहायक हैं एवं शेष दोनों उनके सहायक हैं। इनका मत है कि सौंदर्य वस्तुओंका निरपेक्ष स्वगत गुण है और चाहे कोई देखे अथवा न देखे उनमें वर्तमान रहता है। इसी प्रकार आदम स्मिथ एवं 'डाक्टर ए० गेरार्ड' भी वस्तुगत सौंदर्य मानते हैं। आदम स्मिथ तो क्षमता एवं उपयोगिताको सौंदर्यका स्रोत मानते हैं एवं इन्होंने प्रथावादियोंका खण्डन किया है। डा० गेरार्ड तीन प्रकारका सौंदर्य मानते हैं (१) रूपका सौंदर्य (ब्यूटी आफ फिगर), जो उन वस्तुओंमें पाया जाता है जिनमें सुडौलता, वैचित्र्य और अनुपात, इन तीनोंका समावेश होता है। (२) उपयोगिताका सौंदर्य [ब्यूटी ऑफ् यूटिलिटी] और (३) रंगका सौंदर्य [ब्यूटी ऑफ् कलर], पर 'सौंदर्य क्या है' इसपर ये लोग भी कुछ विशेष प्रकाश नहीं डालते।

(१२) डार्विन

डार्विन महोदयके सौंदर्य विषयक विचित्र सिद्धान्तका उल्लेख हमने इस अध्यायके प्रारम्भमें ही कर दिया है। ये प्रकृति निर्वाचन एवं यौन निर्वाचनके सिद्धान्त द्वारा सौंदर्यकी मीमांसा करते हैं। इनका कहना है

कि फूल इसलिये सुन्दर होता है कि इससे उसकी वंश-वृद्धिमें सहायता मिलती है। तितली फूलके रंग और रूपसे आकृष्ट होती है। वह एक फूलसे उड़कर जब दूसरे फूलपर जाती है तो प्रथम फूलका पराग जो उसकी टाँगों या परोंमें लगा होता है उस फूलमें पड़ जाता है और इस प्रकार उसकी वंश-वृद्धि होती है। अतः फूल जितने ही आकर्षक रंग एवं रूपवाला होगा उतनी ही उसकी वंशवृद्धिकी रक्षा होगी। पुनः तितली इस कारण सुन्दर एवं चित्र विचित्र रंगोंवाली होती है कि इससे उसे अपने शत्रुओंसे रक्षा करनेमें सहायता मिलती है। जब शत्रु उसपर हमला करता है तो वह फूलोंमें छिप कर अपनी रक्षा करती है। यदि उसका रङ्ग फूलोंकी भाँति एवं शरीर इतना कोमल न होता तो वह फूलोंमें न छिप सकती एवं शत्रुका शिकार बनती। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तितलीको आकर्षित करनेके लिए फूलका रूप-रङ्ग एवं फूलमें अपनेको छिपा सकनेके लिए तितलीका रूप-रङ्ग इतना सुन्दर होता है। इसी प्रकार डार्विनने तमाम प्राणियों की सौन्दर्य स्पृहाकी व्याख्या की है और कहा है कि सौन्दर्यप्रियता जीवका साधारण धर्म है। पर जो सौन्दर्य जीवोंको प्रिय है वह स्वयं क्या है, इसकी मीमांसा वे प्राकृतिक निर्वाचनके सिद्धान्त द्वारा नहीं कर सके हैं।

सौन्दर्य तत्व विषयक उनके मतकी निःसारता पाठक स्वयं समझ सकते हैं। प्राकृतिक निर्वाचनके अन्यतर प्रवर्तक अल्फ्रेड रसेल वैलेस महोदय डारविनके इस सौन्दर्य विषयक सिद्धान्तको नहीं मानते। इसी प्रकार एलेन महोदय भी कहते हैं कि चूँकि हमारे पूर्वज (कदाचित कपि रूपमें) फल खाकर जीवन निर्वाह करते थे अतः वंश परम्पराके कारण हममें रङ्गके प्रति स्वाभाविक आकर्षण पाया जाता है। पर स्वर एवं गतिके प्रति जो हमारा अनुराग है, वह कहाँसे आया, इसे वे नहीं बता सके हैं। अस्तु।

(१३) डेविड ह्यूम

प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम लिखते हैं—"Beauty is no quality in things themselves. It exists only in the mind which contemplates them and each mind perceives a different beauty. One person may even perceive deformity when another is sensible of beauty. To seek the real Beauty or real deformity is as fruitless an enquiry as to pretend to ascertain the real sweet or real Bitter." इसका भावार्थ यह है कि "सौन्दर्य वस्तुओंका कोई स्वगत गुण नहीं है, वह तो केवल उस मनमें रहनेवाला एक धर्म है जो वस्तुओंको देखता है और प्रत्येक मनको भिन्न भिन्न सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी व्यक्तिको वहाँ भद्दापन दिखाई पड़े जहाँ दूसरा सौन्दर्य देखता हो। वास्तविक सौन्दर्य या वास्तविक असौन्दर्यकी खोज करना वैसा ही बेकार है जैसा वास्तविक मधुरता या वास्तविक कटुताके निश्चय करनेका प्रयास"। पर आगे अपने २३ वें लेखमें उन्होंने लिखा है कि "यद्यपि यह सत्य है कि माधुर्य एवं कटुताकी भांति सौन्दर्य या असौन्दर्य वस्तुका गुण नहीं है, प्रत्युत भावना (सेण्टीमेण्ट) का परन्तु "यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वस्तुओंमें कुछ ऐसे गुण होते हैं जिन्हें प्रकृतिने उन विशेष वृत्तियोंको पैदा करनेके लिए उनमें समावेशित किया है।"* इस प्रकार हम देखते हैं कि ह्यूम महोदय अपने भौतिकवादके चक्करमें पड़कर सौन्दर्यविषयक किसी निश्चित सिद्धान्तपर नहीं पहुँच सके हैं।

---

* "It must be allowed that there are certain qualities in objects which are fitted by nature to produce those particular feelings"

(१४) सर विलियम हेमिल्टन

इन महाशयका कहना है कि हम अपनी बुद्धि-वृत्ति (अण्डरस्टैंडिंग) द्वारा वस्तुओंका एकत्व विषयक ज्ञान प्राप्त करते हैं एवं कल्पना-वृत्ति (इमैजिनेशन) द्वारा बहुत्वका ज्ञान प्राप्त करते हैं; कल्पना-वृत्ति द्वारा लाये हुए वस्तुओंके उपादान समूहको हमारी बुद्धिवृत्ति एक सूत्रमें ग्रथित करती है और इस प्रकार हमें सौंदर्यका बोध होता है। न तो अकेला बहुत्व और न अकेला एकत्व ही बल्कि बहुत्वमें एकत्व ही वस्तुओंका वह गुण है जिसे हम सुन्दर कहते हैं। वही वस्तु सुन्दर होती है जो हमारी कल्पना एवं बुद्धि-वृत्तिको अनायास और सम्यग्रूपेण परिचालित करती है। किसी सुन्दर पुस्तकको खण्ड खण्ड कर देनेसे उसका सौंदर्य जाता रहता है, अत यही कहना पड़ेगा कि मनुष्यकी बुद्धि वृत्तिके एकत्व सम्पादनकी शक्तिके अनुसार ही सौंदर्य बोधका तारतम्य निश्चित हो सकता है। पर यह सब कहते हुए भी हेमिल्टन सौंदर्य स्पृहा या भावनाको मौलिक वृत्ति मानते हैं। उसे अनुभव-राशिके संयोगसे उत्पन्न नहीं मानते। वे सौंदर्यसे उत्पन्न आनन्दको अन्य श्रेणीके सुखोंसे भिन्न मानते हैं।

(१५) क्रूसाज़

क्रूसाज़ साहब कहते हैं कि सौंदर्य हमें निरपेक्ष (एबसॉल्यूट) रूपमें नहीं ज्ञात होता प्रत्युत सौंदर्य शब्दसे उस सम्बन्धका बोध होता है जो सम्बन्ध सुन्दर कही जानेवाली वस्तु और हमारी बुद्धि एवं भावनाके बीच होता है। और यह शब्द (सौंदर्य) उसी कोटिका है जिस कोटिका 'सत्य' या 'ईमान्दारी' है। यदि किसी सुन्दर वस्तुके विषयमें हम किसीसे पूछें तो वह यही कहेगा कि इस वस्तुमें कुछ ऐसी बातें हमें दिखाई पड़ती हैं जिन्हें हम पसन्द करते हैं एवं जो हमें सुख देती हैं। पर बुद्धिको सुखदायक एव हृदयको सुखदायक

वस्तुओंमें भेद है (हृदयसे उनका क्या अभिप्राय है यह समझमें नहीं आता)। यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु सुन्दर हो वह सुखकर भी हो। हमें ऐसी वस्तुओंमें भी सौंदर्यानुभव हो सकता है जो दुखदायक हों। क्रूसाज़ (१) वैचित्र्य (२) एकत्व (३) समानता (४) सुशृंखला और (५) अनुपातको सौंदर्यका स्वरूप मानते हैं पर अपनी पुस्तकके एक दूसरे अध्यायमें वे वैचित्र्य, अनुपात, एवं क्षमतापर ही अधिक ज़ोर देते हैं। साथ ही वे कहते हैं कि "जब हम किसी वस्तुको देखकर 'सुन्दर' कह उठते हैं, उस समय हम इसके लिए नहीं ठहरे रहते कि उपर्युक्त बातोंको देख लें तभी इसे सुन्दर कहें बल्कि सौंदर्य-का हमें हठात् एवं अचानक बोध होता है। अब प्रश्न यह है कि इस सौंदर्यका आधार प्रकृतिमें है अथवा अन्यत्र। इसका निर्णय करनेके लिए हमें मानव-प्रकृतिके मूलमें और जगतके मूलमें जाना पड़ेगा और वह मूल सामञ्जस्य है। पर प्रकृति और पुरुष—'मैन एंड नेचर' (सांख्यका प्रकृति-पुरुष नहीं)—में पूर्ण सामञ्जस्य नहीं है। मानव प्रकृतिमें महान भेद है एवं उसके चतुर्दिक अनेक बुराइयोंका साम्राज्य है। अतः जिस वस्तुमें नानात्वका जितना ही सामञ्जस्य होगा और जो समानानुपाती एवं अपने कार्यमें क्षम होगी वही सुन्दर होगी। क्रूसाज़ने कई ऐसी बातोंकी ओर केवल संकेतमात्र किया है जिनका यदि वे अपनी सौन्दर्यविषयक मीमांसामें उचित उपयोग करते तो कदाचित् किसी अच्छे निष्कर्षपर पहुँच जाते पर वे ऐसा नहीं कर सके हैं। फिर भी इस अध्यायमें उल्लिखित विद्वानोंमेंसे एकाधिकको छोड़कर और सबकी अपेक्षा उनके मतमें अधिक तथ्यकी बातें कही गयी हैं।

(१६) रस्किन

इन महोदयका सिद्धान्त ऐसा है जिसे भौतिकवादी एवं अध्यात्मवादी दोनोंके बीचमें रख सकते हैं, इसीलिये हमने इन्हें इस अध्यायके अन्त-

में रखा है। अध्यात्मकी दृष्टिसे इनके मतका कोई विशेष महत्व नहीं। यह प्राय परस्पर विरोधी बातोंसे भरा है। अपने 'अर्वाचीन चित्रकार' (माडर्न पेण्टर्स) नामक ग्रन्थकी दूसरी पोथीमें इन्होंने सौंदर्य पर विचार किया है। पहले तो दूसरोंके सिद्धान्तोंका खण्डन है। एलिसनके साहचर्य नियमका इन्होंने बड़ी योग्यतासे खण्डन किया है। इन्होंने मनुष्यमें दो वृत्तिया मानी हैं, एक तो साहजिक (थ्योरेटिक) और दूसरी काल्पनिक (इमैजिनेटिव)। साहजिक वृत्ति द्वारा हम नीति और सौंदर्यका ज्ञान प्राप्त करते हैं। इन्द्रिय बोधसे यह वृत्ति स्वतन्त्र है। इसी वृत्तिका विषय सौंदर्य है। इन्होंने सौंदर्यको भी दो श्रेणियोंमें विभक्त किया है (१) रूपक (टिपिकल) और (२) जीवनी शक्ति ज्ञापक (वाइटल)। प्रथम श्रणीका सौंदर्य बाह्य वस्तुका गुण या धर्म है। पर बाह्य वस्तुके समस्त गुण भगवान्के किसी न किसी गुणके ज्ञापक हैं। इन्होंने अपनी पुस्तकमें खुले दिलसे लिखा है कि हम यह दावा नहीं करते कि हमने सुन्दरताके तमाम गुणोंको जान लिया है, बल्कि हमें जिन बातोंका पता लग सका है उन्हें ही हम यहां देते हैं। रूपक सौंदर्यके ६ अग इन्होंने माने हैं।

(१) अनन्तत्व (इनफिनिटी)—यह भगवानके अज्ञेयत्वका ज्ञापक है।
(२) एकत्व (यूनिटी)—भगवान्के सर्वव्यापकत्वका ज्ञापक है।
(३) स्थिति (रिपोज़)—भगवान्के नित्यत्वका ज्ञापक है।
(४) सममातृत्व (सिमेट्री)—भगवान्की न्यायपरताका ज्ञापक है।
(५) शुद्धता (प्यूरिटी)—भगवान्की शक्तिका निदर्शक है।
(६) परिमितत्व (माडरेशन)—भगवान्के नियमबद्ध शासनका ज्ञापक है।

जीवनी शक्ति ज्ञापक सौन्दर्यको भी रस्किन दो श्रेणियोंमें विभक्त करते हैं (१) सापेक्षिक (रिलेटिव) और (२) साधारण (जनरिक)।

व्यक्तिके सतेज परिचालन परिमाणपर सापेक्षिक सौन्दर्य निर्भर करता है एवं जातिके साधारण धर्मके प्रतिपालनपर साधारण सौन्दर्य। यही रस्किनके मतका सार है। कहीं कहीं इन्होंने बड़ी मूल्यवान् बातें कही हैं पर कहीं कहीं जिन बातोंका ये खण्डन करते हैं उन्हींका दूसरी जगह मण्डन। जो हो, उन बातोंके विवेचनका यहाँ अवसर नहीं है।

ऊपर हमने विशेष विशेष लोगोंके मतोंको सक्षेपमें दिखलानेका प्रयत्न किया है। यद्यपि बहुतेरे विद्वान् छूट गये हैं, पर सब लोगोंका मत देनेका न तो इस पुस्तकमें स्थान है और न उसकी आवश्यकता ही है। यह तो 'सौन्दर्य-तत्व विषयक सिद्धान्तोंके इतिहास' पर लिखी गयी पुस्तकका विषय है। अतएव आशा है, पाठक इतनेसे ही सन्तोष करेंगे।

अब हम आगेके अध्यायमें उन विद्वानोंका मत लिखेंगे, जिन्होंने इस विषयपर अधिक सूक्ष्मताके साथ एवं अध्यात्मकी दृष्टिसे विचार किया है।

तीसरा अध्याय

सौंदर्यका स्वरूप

(दार्शनिकोंका मत)

दूसरे अध्यायकी तरह हम इस अध्यायमें भी कालक्रमके अनुसार इन विद्वानोंका मत नहीं देंगे, प्रत्युत विचारगुरुताके अनुसार ही उनका उल्लेख करेंगे। नीचे उन महानुभावोंमेंसे मुख्य मुख्यका मत सक्षेपमें लिखा जाता है, जिन्होंने सौंदर्यके विषयमें आध्यात्मिक दृष्टिसे विचार किया है।

(१) सुकरात

सौंदर्यके विषयमें सुकरातका कोई महत्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं है, ये पाश्चात्य दर्शनके जन्मदाता समझे जाते हैं, इसलिए जो इनका मत है उसे हम पाठकोंके सामने रखते हैं। इसमें . है जिसे ध्यानमें रखना चाहिए और वह यह कि सुकरातने लेखनीसे कोई पुस्तक नहीं लिखी। ज़ेनोफनछ रचित, मेम † नामक ग्रन्थसे जो कुछ हमें पता लगता है, वह यह है कि सुकरात उसी वस्तुको सुन्दर कहते थे जो उपयोगी हो। उनका कहना है यदि पाखाना साफ करनेकी टोकरी कार्यसाधनोपयोगी है तो सुन्दर है, पर सोनेकी ढाल भी यदि वह उपयोगमें आने लायक हो तो कुत्सित है‡ अर्थात् वे सुन्दर और हितकर (गुड) को एक ही मानते हैं। बस इससे अधिक सुकरातके सिद्धान्तके विषयमें कुछ नहीं मालूम होता।

(२) प्लेटो

सुकरातके योग्य शिष्य प्लेटोने इसपर बहुत विचार किया है इन्होंने कई पुस्तकें सुकरात और अन्य लोगोंके वार्तालापके रूपमें लिखी हैं। हिपियास मेजर नामक वार्तालापमें सौंदर्य विषयक कई सिद्धान्तों की आलोचना की गयी है और एकके बाद दूसरेकी त्रुटियाँ निकाली गयी हैं। पहले यह विचार उपस्थित किया गया कि जो कार्यसाधनोपयोगी है वही सुन्दर है, किन्तु फिर यह कहकर इसका निराकरण किया कि उपयोगिता सौंदर्यकी वृद्धि तो करती है पर वह प्रकृत सौंदर्य नहीं

---

* Xenophon

† Memorabilia III 8

‡ A dung basket if it answers its end may be a beautiful thing while a golden shield not well formed for use an ugly thing

। इसके बाद 'सुन्दर और हितकर (यूसफुल) एक ही है' की
मांसा कर कहा गया है कि सुन्दर एवं हितकर एक ही पदार्थ नहीं
सकता। शक्ति जिस समय हितकर कार्यमें प्रयुक्त होती है उस
मय वास्तवमें सुन्दर होती है, पर शक्तिका प्रयोग अहितकर कार्यमें
ी हो सकता है। उस समय तो वह सुन्दर नहीं भी होगी। यदि
हो कि हितकर कार्यमें प्रयुक्त शक्ति सुन्दर होती है, तब तो 'हितकर'
रण और 'सुन्दर' कार्य हो जायगा। फिर ये दोनों एक ही कैसे हुए ?
सी प्रकार कुछ लोग जो यह कहते हैं कि 'सुखकर और सुन्दर (प्लेज़ा-
बिल एण्ड ब्यूटीफुल) एक ही हैं' उसे भी अयुक्तिसंगत ही दिखाया
या है; क्योंकि इस पक्षमें विचार करके देखनेसे यही निष्कर्ष निक-
ला कि 'सुन्दर कारण और तज्जनित सुख कार्य है, दोनों एक नहीं।'
किन्तु यहाँपर प्लेटोने अपना कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला है।
समें केवल भिन्न सिद्धान्तोंकी समीक्षा है, खोज है। एकके बाद दूसरा
सिद्धान्त सामने रखा गया है पर सब सदोष होनेके कारण छोड़ दिये गये हैं।
टोका सौंदर्यविषयक सिद्धान्त समझनेके लिए हमें उनके दार्शनिक
विचारको पूर्णरूपेण समझना होगा। उनका कहना है कि संसारमें जो
कुछ हमें दिखाई पड़ता है वह सत्य नहीं है, वह तो सत्यका प्रतिबिम्ब
मात्र है, दृश्य है (फेनोमेना) है। इसके भीतर सत्यलोक या
आदर्शलोक (आइडियल वर्ल्ड) है जो इन्द्रियातीत तथा दिक्कालके परे है
पर बुद्धिग्राह्य है। इस जगत्के मूलभूत रूप, तत्व, अर्थात् सब ही
उसमें मौजूद हैं। संसारमें जो कुछ रूप है वह उन आदर्श रूपों (आइ-
डियाज़) की प्रतिच्छाया है। हर एक वस्तुका एक एक आदर्शरूप है।
इसी प्रकार सौंदर्यका भी एक निरपेक्ष (एबसॉल्यूट) रूप है। जो वस्तु
इस अपने आदर्शरूपके जितनी ही सदृश होगी वह उतनी ही सुन्दर
होगी अथवा यों कहें कि यह निरपेक्ष सौंदर्य (एबसॉल्यूट ब्यूटी) जिस
वस्तुमें होगा वही हमें सुन्दर दिखाई देगी। प्लेटोने 'सिम्पोज़ियम' नामक

ग्रन्थमें कहा है कि जो कोई सौंदर्यतत्वकी खोजमें उचित अग्रसर होगा वह सर्वप्रथम सुन्दर रूपोंको देखेगा और शीघ्र ही वह देखेगा कि एक रूपकी सुन्दरता दूसरेके अनुरूप ही है, और तब, साधारणतया रूपोंका सौंदर्य ढूँढना उसका उद्देश्य होगा तो वह मूर्ख होगा यदि उसे यह न दिखाई पड़े कि तमाम रूपों का सौंदर्य एकही है और इस प्रकार अन्तमें उसके लिए सौंदर्य वि० का द्वार सर्वत्र ही खुला मिलेगा। उसे उस अद्वय, निरपेक्ष ज्ञान हो जायगा जो न बढ़ता है न घटता है, न पैदा होता है न होता है बल्कि निरन्तर एकरस रहता है और इस प्रकार वह जायगा कि सौंदर्य क्या है।' इसी प्रकार फ़ीड्रस नामक वार्तालापमें निरपेक्ष सौंदर्यका ही अस्तित्व स्वीकार किया गया है। अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थमें भी जहाँ तहाँ प्लेटोने सौंदर्यपर कुछ न कुछ लिखा है पर इस विषयका पूर्णरूपसे उन्होंने किसी पृथक् पुस्तकमें विवेचन नहीं किया है। रिपब्लिककी पाँचवीं पोथीमें उन्होंने कहा है 'थोड़ेसे ऐसे लोग हैं जो उस निरपेक्ष सौंदर्यका दर्शन कर सकनेकी योग्यता रखते हैं, जिसने उसे कभी नहीं देखा है वह चाहे सुन्दर वस्तुओंसे परिचित भी हो फिर भी वैसा ही है जैसे कोई स्वप्नावस्थामें हो, पर जो उन वस्तुओंमेंसे जिनमें यह सौंदर्य रहता है निरपेक्ष सौंदर्यको पहिचान सकता है वह उसकी अपेक्षा जाग्रत् अवस्थामें है।'.. इत्यादि। यही प्लेटोके सिद्धान्तका सार है।

(२) प्लोटिनस*

प्लोटिनसने प्लेटोके सिद्धान्तको नया रूप देकर प्रचारित किया है इसीलिए इन्हें नव्य प्लेटोनिस्ट कहा जाता है। इनका दार्शनिक सिद्धान्त यह था कि 'एक ही अपरिवर्तनशील, सतत शक्ति अर्थात् 'एक' (वन) या शिव (दि गुड मंगल) से पहले बुद्धि (इण्टेलिजेन्स) या विषयात्मक

* Plotinus

ज्ञा (आबजेक्टिव रीज़न) उत्पन्न हुई । यह प्रज्ञा निरपेक्ष रूपसे सुन्दर है । इस प्रज्ञासे संसारका आत्मा या हिरण्यगर्भ (दि सोल ऑफ दि यूनीवर्स) उत्पन्न हुआ और उससे प्रकृति (मैटर) और प्रकृतिसे दृश्य जगत् उत्पन्न हुआ है । (सांख्यके सिद्धान्त एवं वेदान्तसे मुकाबिला कीजिये ।) इनमें प्रज्ञाकी अपेक्षा जीवात्मा और उसकी भी अपेक्षा प्रकृति कम सुन्दर है। जड़ वस्तु गतिहीन एवं प्रज्ञा गतिशील है । अत यह प्रज्ञा स्वगति द्वारा जड़ वस्तुको आकृति-सम्पन्न करती है और इस प्रकार आकृतिसम्पन्न वस्तु सुन्दर होती है । जिस परिमाणमें यह प्रज्ञा जड़ वस्तुपर क्रिया करती है, उसी परिमाणमें जड़ वस्तु सुन्दर होती है और जिन वस्तुओंपर प्रज्ञाकी क्रिया नहीं होती वे ही असुन्दर एवं आकृतिरहित होती हैं । दूसरे शब्दोंमें हम यों कह सकते हैं कि प्रज्ञा (रीज़न) का किसी विशेष रूप या आकृति द्वारा प्रकाशित होना ही सौन्दर्य है । जो लोग सममातृताको ही सौन्दर्यका कारण मानते हैं, उनका खण्डन करते हुए प्लोटिनसने अपने इनियड्स नामक ग्रन्थमें लिखा है* 'बल्कि सौन्दर्य एक ज्योति है जो वस्तुओंकी सममातृतापर क्रिया करती है । स्वयं सममातृता सौन्दर्य नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि मृत शरीरोंमें यद्यपि सममातृता शीघ्र ही नष्ट नहीं हो जाती, फिर भी जीवित मुँहपर ही सौन्दर्यका प्रकाश रहता है और मृत शरीरपर उसका संस्कार मात्र । एवं जिन मूर्तियोंमेंसे जीवनी-

* Beauty is rather a light that plays over the symmetry of things than the symmetry itself, and in this consists its charm For, why is the light of Beauty rather on the living face and only a trace of it on that of the dead, though the countenance be not yet disfigured in the symmetry of its substance, and why are the more life like statues the more beautiful, though the others be more symmetrical ? (बसांकेके 'सौंदर्यका इतिहास' नामक ग्रन्थसे)

शक्ति मानो फूटी पड़ती है वे ही अधिक सुन्दर होती हैं। यद्यपि औरोंमें उनकी अपेक्षा अधिक सममानुता रहती है।' अस्तु। प्रकाशके तारतम्यानुसार प्लोटिनस सौन्दर्यकी तीन कोटियाँ मानते हैं। (१) मानवीय प्रज्ञाका सौन्दर्य—यह सौन्दर्य सर्वापेक्षा श्रेष्ठ है, (२) मानवीय आत्माका सौन्दर्य—यह पहलेकी अपेक्षा कम दर्जेका है, एवं (३) प्राकृत वस्तुओंका सौन्दर्य—यह सर्वापेक्षा कम दर्जेका सौन्दर्य है। यही प्लोटिनसके सिद्धान्तका सारांश है।

विज्ञानकी सीमा निर्धारित की। इनका कहना है कि हमारी प्रत्येक आन्तरिक वृत्तिका एक एक लक्ष्य है, और प्रत्येक वृत्ति अपने लक्ष्यपर पहुँच कर पूर्णत्वको प्राप्त होती है। हमारे उज्वल ज्ञानका लक्ष्य सत्य, अनुज्ज्वल या ऐंद्रिय ज्ञान * का लक्ष्य सौन्दर्य, एव इच्छावृत्तिका लक्ष्य मङ्गल (गुड) है। इन्द्रिय सम्भूत ज्ञानकी पूर्णताही सौन्दर्य है एव जो वस्तु इस पूर्णत्व लाभमें बाधक है वही कुत्सित है। 'इन्द्रियसम्भूत ज्ञानके साथ सौन्दर्यका सम्बन्ध है' यह पहले पहल जर्मनीमें इन्होंने प्रचारित किया था।

(६) पीयर एण्ड्री †

पीयर एण्ड्रीने आगस्टाइनके मतका ही बहुत अशोंमें प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि 'हमें यह जाननेकी आवश्यकता नहीं है कि कौन वस्तु सुन्दर है। सबसे महान् प्रश्न यह है कि सौन्दर्य तत्वत क्या है ?' इसके उत्तरमें उन्होंने सौन्दर्यको तीन प्रकारका दिखलाया है। उनका कहना है—

(१) एक तो दिव्य सौन्दर्य है।

(२) दूसरा प्राकृतिक सौन्दर्य है जो पहलेसे बिलकुल पृथक् एव मानवीय रुचि या मतसे बिल्कुल स्वतन्त्र है।

(३) एक तीसरे प्रकारकी सुन्दरता है जो कृत्रिम है एव साहचर्य नियम तथा प्रथा आदिसे उत्पन्न होती है। तीसरे प्रकारकी सुन्दरताके विषयमें ही भिन्न जातियोंमें रुचिवैचित्र्यके कारण मतभेद होता है।

(७) विक्टर कूज्यां ‡

इन्होंने 'सत्य, सुन्दर, मङ्गल' (दि ट्रू, दि ब्यूटीफुल, एण्ड दि गुड) नामक ग्रन्थमें सौन्दर्य तत्वकी बड़ी अच्छी मीमासा की है। इनका कहना है कि सुखद, प्रयोजनीय एवं उपयोगीसे सुन्दर पृथक

---

* Obscure or sensuous knowledge.

† Pere Jesuit Andre

‡ Victor Cousin

पदार्थ है। अनुपात और सुश्रृंखला सौन्दर्यबोधमें सहायक अवश्य होते हैं पर सब प्रकारके सौन्दर्यमें ये सहायक नहीं होते। एकत्व सौन्दर्यका बहुत बड़ा सहायक है पर यही सब कुछ नहीं है। एकत्व एवं वैचित्र्य दोनों ही सौन्दर्य-बोधमें सहायक हैं। वह सौन्दर्यको भौतिक, मानसिक एवं नैतिक इन तीन श्रेणियोंमें विभक्त करते हैं। जड़ वस्तुएँ इसलिए सुन्दर होती हैं कि ये किसी न किसी भावको प्रकाशित करती हैं। शिल्पकला भी मनुष्यके भावकी निदर्शक होती है, इसीलिए सुन्दर होती है। चाहे मनुष्यकी मूर्ति हो, चाहे और किसीकी, वह इसीलिए सुन्दर होती है कि उसमें भाव-प्रकाशकी क्षमता होती है।

यह तो स्पष्ट ही है कि कोई आकृति पृथक् नहीं रह सकती। वह किसी न किसी पदार्थकी ही आकृति होती है, अतएव भौतिक सौंदर्य किसी आभ्यन्तरिक सौंदर्यका निदर्शक है और वही आध्यात्मिक या नैतिक सौंदर्य है। पर इस सौंदर्यके मूलमें भी एक सौंदर्य है जो आदर्श मानसिक सौंदर्य है। यह आदर्श सौंदर्य किसी व्यक्ति-विशेषमें या व्यक्ति-समूहमें नहीं रहता। और इसकी अपेक्षा अधिक सुन्दर और कुछ नहीं है। प्राकृतिक एवं नैतिक सौंदर्य इसी परम सौंदर्यकी प्रतिच्छाया है। यह ध्रुव एवं आदर्श सौंदर्य स्वयं परमात्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं। जब कि ईश्वर ही सारे संसारका मूलतत्त्व है तो सौंदर्यका मूलतत्त्व भी वही है। प्रकृतिमें जो कुछ सौंदर्य है, सब ईश्वरका ही सौंदर्य है। सारांश यह कि सत्य, शिव, एवं सुन्दर उस अनन्त परमात्माके रूपके सिवाय और कुछ नहीं।'*

(८) लिवेक†

लिवेकका कहना है कि जीवजगत्‌का सौंदर्यबोध प्रधानतः एकत्व

* The true, the good and the beautiful are but forms of the Infinite.

† Leveque.

और वैचित्र्य, वर्णकी अधिकता, कोमलत्व आदिपर निर्भर करता है पर वह सौंदर्य एक अदृश्य शक्तिका प्रकाशमात्र है। यह अदृश्य शक्ति आत्मा या मन ही है। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि प्रकृतिके अन्दरसे प्रकाशित होनेवाली किसी अदृश्य शक्तिकी अभिव्यक्ति ही सौंदर्य है।

(९) जाफ्राय*

जाफ्रायने सौंदर्यके विषयका बड़े सुन्दर ढंगसे विवेचन किया है। उन्होंने सौंदर्यबोधकी पहले तो वैज्ञानिक मीमांसा की है और तब आध्यात्मिक। सर्वप्रथम उन्होंने इसी प्रश्नको उठाया है कि सुन्दर वस्तुओंके विश्लेषणसे हमें किन बातोंका पता लगता है जिनके देखनेसे हम उन्हें सुन्दर कहते हैं एवं उस समय हमारी मानसिक अवस्था कैसी रहती है। मानसिक अवस्थाके ऊपर विचार करते हुए उन्होंने कहा है सब प्रकारसे निर्विवाद बात जो हमें मालूम होती है वह यह है कि तमाम सुन्दर कही जानेवाली वस्तुएँ हमें आनन्द देती हैं। पर इससे यह नहीं सिद्ध हो जाता कि सुखकर और सुन्दर एक ही पदार्थ हैं। दूसरे, हम यह भी देखते हैं कि उपयोगी और सुन्दर भी एक ही नहीं है। बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं जो सुन्दर हैं पर उपयोगी नहीं और बहुतेरी उपयोगी हैं पर सुन्दर नहीं। बल्कि हम तो यह देखते हैं कि जिस समय हम किसी वस्तुके सौंदर्यका अनुभव करते रहते हैं, उस समय हम उसकी उपयोगिताकी ओर ध्यान नहीं देते और जब उपयोगितापर ध्यान रहता है तो सौंदर्य नहीं दिखाई पड़ता। तीसरी बात जो हमें दिखाई पड़ती है वह यह है कि जब हम किसी वस्तुके सौंदर्यका अनुभव करते हैं तो हम उस वस्तुसे सामीप्यकी इच्छा करने लगते हैं पर ज्योंही हम उस वस्तुको पा जाते हैं त्यों ही उसका सौंदर्य बहुत कुछ कम हो जाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वस्तु प्राप्तिकी इच्छा उस प्रथम सौंदर्यानुभव-

* Jouffroy

का अंग नहीं है जो सुन्दर वस्तुको देखनेसे पैदा होता है। सौंदर्यानुभव तो निष्काम होता है, उसमें सत्कार एवं आदर होता है। उस वस्तुके उपयोगकी इच्छा तो बादको पैदा होती है।' आगे चलकर उन्होंने उन लोगोंके मतका कूजाँकी अपेक्षा अधिक योग्यतासे खण्डन किया है जो वैचित्र्यमें एकत्व, उपयोगिता, प्रथा (कस्टम) एवं साहचर्य द्वारा सौंदर्यकी उत्पत्ति मानते हैं। फिर मनोविज्ञानसे आगे बढ़कर जब वे सौंदर्यका तात्विक रूप निर्णय करनेके लिए अध्यात्ममें आते हैं, तो सर्वप्रथम उन लोगोंके सिद्धान्तोंका खण्डन करते हैं जो लोग अनुपात, सुव्यवस्था, सामञ्जस्य आदिको सौंदर्यका रूप मानते हैं। वे पूछते हैं—'आखिर अनुपातादिवादी सिद्धान्तोंका क्या मतलब है? यही न कि कुछ दृश्य एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं और एक लक्ष्यके साधन बने हुए हैं? पर संसारमें कौन ऐसा दृश्य है जिसमें इस प्रकारका पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है? परस्परके सम्बन्ध या गठनसे उस वस्तुके सौंदर्य या असौंदर्यका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः अभी इस बातका पता लगाना शेष ही रह जाता है कि जो इस सम्बन्ध या गठनको सुन्दर बनाता है वह क्या है।' फिर आगे वह इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि 'भौतिक संकेतोंके द्वारा अदृश्य (ब्रह्म) की अभिव्यक्ति ही सौंदर्य है। दृश्य जगत् तो केवल वह पर्दा या पोशाक है जिसके द्वारा हम उसे देखते हैं।''* इस प्रकार जाफ्रायने जगत् सत्यवादियों (रीअलिस्ट्स) और प्रज्ञावादियों (आइडिअलिस्ट्स) का समन्वय कर दिया है।

(१०) लार्ड शेफ्ट्सबरी

लार्ड शेफ्टस्बरीने ही सर्वप्रथम सौंदर्य बोधको सहजज्ञान (इन ट्यूशन) का विषय बतलाया था। वे वस्तुगत सौंदर्य नहीं मानते। उनका

* Beauty is the expression of the Invisible by the natural signs which manifest it The visible world is the garment we see it by

कहना है कि 'सांसारिक नियममें ही समस्त सौंदर्य निहित है और यह सांसारिक नियम परमात्मा ही है। समस्त गति एवं सजीव वस्तुको परमात्माने ही पैदा किया है। हमारे अन्दर सौंदर्यज्ञान प्राप्त करनेके लिए स्वतंत्र आन्तरिक वृत्ति है। इस वृत्ति द्वारा हमें मंगल या शिवका भी ज्ञान होता है। सौंदर्य हमें विमल सुख या आनन्द देता है।' सौंदर्यको इन्होंने तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया है—(१) जड़ीय सौंदर्य (इसीके अंतर्गत कलाका सौंदर्य भी है), (२) जीव-जगत्का सौंदर्य (यह भगवान्‌की सृजनात्मक शक्तिका प्रकाश है) एवं (३) भगवत् सौंदर्य। उन्होंने अपने 'मॉरलिस्ट' नामक ग्रन्थमें लिखा है—"प्रकृतिमें जो कुछ सौंदर्य दिखाई पड़ता है वह उसी 'आदि सौंदर्य' की अस्पष्ट छाया है। सौंदर्य और ईश्वर एक ही है।"* उन्होंने यह भी सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि जो सुन्दर है वही सत्य है और जो सत्य है वही शिव है। अर्थात् सत्य, शिव, और सुन्दर एक ही है। हचीसनने कुछ हेरफेरसे शेफ्ट्सबरीके सिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया है एवं निरपेक्ष और सापेक्ष दो प्रकारका सौंदर्य माना है। इनके सिद्धान्तको अलग लिखनेकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है।

(११) रीड

रीडने भी सौंदर्य-बोधको सहजज्ञानका विषय माना है और मनसे स्वतंत्र सौंदर्यका अस्तित्व स्वीकार किया है। पर सौंदर्यको दृश्य वस्तुओंका अपना गुण नहीं माना है। उनका कहना है कि "ज्ञान एवं इच्छाशक्ति ही मूलतः सुन्दर है। जिस परिमाणमें यह शक्ति दृश्य जगत्में प्रकाशित होती है, उसी परिमाणमें वस्तुएँ सुन्दर दिखाई पड़ती हैं और

---

* What ever in nature is beautiful is only the faint shadow of the 'First Beauty' Beauty and God are one and the same

वह ज्ञान एवं इच्छाशक्ति ईश्वरकी ही शक्ति है। वृक्षके सौंदर्यको ही लीजिये। उद्देश्य-साधनकी पूर्णताके ऊपर ही वृक्षका सौंदर्य निर्भर करता है, और उद्देश्य-साधनकी उपयोगिता स्रष्टाकी ज्ञान-शक्तिका प्रकाशक है; सुतरां वृक्षका सौंदर्य अन्ततः भगवान्‌की शक्तिका प्रकाश मात्र है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि रीडके मतसे सौंदर्य सम्पूर्णरूपेण आध्यात्मिक है।

(१२) शिलर

शिलरका कहना है कि जड़ जगत्‌में जीवको बहिर्जगत्‌की शक्तिके अधीन होकर कार्य करना पड़ता है और नैतिक जगत्‌में कर्त्तव्य-बुद्धिके अधीन। ये दोनों जगत् बाध्यबाधकताके क्षेत्र हैं और बाध्यबाधकता कष्टकर होती है, अशांति-उत्पादक होती है। पर इन दोनोंके मध्यमें एवं दोनों-की समन्वय भूमिरूप एक जगत् है जो क्रीड़ाभूमि है। इस क्रीड़ा-जगत्‌में जीव सम्पूर्णरूपेण स्वाधीन है। क्रीड़ा करना या न करना मनुष्य-की इच्छाके अधीन है। क्रीड़ाकी स्वाभाविक इच्छा अज्ञातरूपसे उप-करण एवं आकृतिका समन्वय करती है एवं हमें इस बाध्य-बाधकतारूप जगत्‌से परे एक जगत्‌का संवाद देती है। यही जगत् सौंदर्यका जगत् है। यह सौंदर्यका आनन्दमय जगत् भौतिक एवं नैतिक जगत्‌के मध्यमें अवस्थित है। इस जगत्‌में पहुँच कर मनुष्य बाध्य-बाधकतारूप जगत्‌से उद्धार पा जाता है एवं सौंदर्यका तात्त्विक रूप समझ जाता है। सौंदर्यके साथ क्रीड़ा करना ही मनुष्यका एकमात्र कर्त्तव्य है; और जब मनुष्य ऐसी क्रीड़ा करता है तभी वह वास्तवमें मनुष्य कहलाने लायक होता है। अंग्रेज दार्शनिक स्पेन्सरने इन्हींके मतका प्रतिपादन किया है।

(१३) लोज़ *

लोज़का सिद्धान्त है कि हमारी विचार-बुद्धि हमें तीन जगत्‌का संवाद देती है—(१) घटना-जगत् (रीजन आफ फैक्ट्स) (२),

* Lotze.

नियमका जगत् (रीज़न ऑफ लॉज़) और (३) आदर्शका जगत् (रीज़न ऑफ स्टैण्डर्ड्ज़ आफ व्हैल्यू)। ये तीनों जगत् केवल हमारी बुद्धिमें ही पृथक् पृथक् हैं, वास्तवमें ये एक ही हैं। अच्छी तरह विचार करके देखनेसे जान पड़ेगा कि घटना-जगत् ही हमारे उच्चतम नैतिक एवं सौंदर्य-विषयक आदर्श-समूहके साधनका क्षेत्र है एवं नियम-जगत् उसका उपाय है। पर इस प्रकारकी एकता एक ईश्वर (पर्सनल डीटी) माने विना सम्पादित नहीं हो सकती। भगवान् ही अपने उद्देश्य-साधनके लिए स्वेच्छासे कुछ आकृतियों एवं नियमोंका अवलम्बन करके घटना-जगत्में इन तीनोंका एकत्व सम्पादित करते हैं। अतएव आदर्श, उपाय एवं अपरिहार्य नियमोंके अन्तवर्त्ती एकत्वका प्रकाश ही सौंदर्य है। पर यह सौंदर्य बुद्धिगम्य नहीं, सहज ज्ञान (इनट्यूइशन) गम्य है। परमात्मा ही यह एकत्व सम्पादित करते हैं, अतएव वे समस्त सौंदर्यके कारण हैं, ईश्वर ही पवित्रता, सौंदर्य एवं मंगलके पूर्णतम आदर्श हैं। लोज़ाका यह भी कहना है कि सुन्दरको सुखदसे अच्छी तरह पृथक् नहीं किया जा सकता। बल्कि यों कहना चाहिये कि सुखदका ही एक उच्चत प्रकार या भेद सुन्दर है; पर जिन वस्तुओंको हम सुन्दर कहते हैं वे हमें व्यष्टिरूपमें आनन्द नहीं देतीं, प्रत्युत हमारी समष्टि आत्मा (यूनीवर्सल स्पिरिट इन अस)-को आनन्दित करती हैं।

(१४) हरबार्ट *

हरबार्टका सिद्धान्त है कि सौंदर्य-विज्ञान एवं नीति-विज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणके ऊपर प्रतिष्ठित है। काण्टकी तरह ये भी सौंदर्य-विषयक अवगतिको व्यक्तिगत स्वीकार करते हैं। इनका यह भी कहना है कि सौंदर्यावगति किसी वस्तुविशेषकी सत्तापर निर्भर नहीं करती। यह तो स्वाभाविक रूपसे हमारे मनमें उदित होती है। सम्बन्ध-बोध हमें निःस्वार्थ आनन्द प्रदान करता है अतएव प्रीतिकर सम्बन्ध ही सौंदर्यका

* Herbart.

रूप है। वस्तुमेंसे प्रीतिकर सम्बन्ध निकाल देनेसे उसका सौंदर्य अन्तर्हित हो जाता है। 'कौन कौन अविमिश्रित सम्बन्ध हमें निस्वार्थ आनन्द देते हैं' इस बातको इन्होंने बड़ी योग्यतासे प्रतिपादित किया है। दृष्टान्तस्वरूप इन्होंने स्वर सयोगका उदाहरण दिया है। इनके मतसे नीति विज्ञान सौंदर्य विज्ञानपर ही अवस्थित है।

(१५) एफ टी विशर*

एफ टी विशरका कहना है कि सौंदर्य विषयक मीमांसा केवल अद्वैतवाद द्वारा ही उचित रूपसे हो सकती है। ये प्रसिद्ध अद्वैतवादी दार्शनिक हेगलके अनुयायी थे। इनका भी यही कहना है कि प्रज्ञाका सीमाबद्ध प्रकाश ही† सौंदर्य है। कलाके ऊपर विचार करते हुए इन्होंने कहा है कि कलामें ज्ञाता ही ज्ञेय रूपसे प्रकाशित होता है।

(१६) शेलिंग‡

शेलिंगके अतीन्द्रिय विद्वाद (ट्रांसेण्डेण्टल आइडिअलिज्म) का लक्ष्य ज्ञाता और ज्ञेयकी, आत्मा और जगत्की एकता करना था। उनका कहना है कि ज्ञाता और ज्ञेय अच्छेद्य रूपसे सयुक्त हैं, ज्ञातासे भिन्न ज्ञेय का एव ज्ञेयसे भिन्न ज्ञाताका कोई अस्तित्व नहीं है। ज्ञाता और ज्ञेय (सबजेक्ट एण्ड आबजेक्ट) विपरीत दिग्प्रदर्शक दो केन्द्र हैं, पर दोनों अभेदरूपसे युक्त हैं। एक निरपेक्ष ज्ञान या प्रज्ञा (एबसॉल्यूट) इन दोनोंको धारण किए हुए है। यही प्रज्ञा दोनोंकी समन्वय भूमि है। उन्होंने अपने दर्शनशास्त्रको तीन भागोंमे विभक्त किया है—(१) ज्ञानोत्पत्ति सम्बन्धी, (२) इच्छाशक्ति सम्बन्धी, एव (३) कला विद्या सम्बन्धी। उनका कहना है कि ज्ञान एव इच्छाशक्तिमे ज्ञाता

---

* F, Theodor Vischer

† Idea in the form of limited appearance

‡ Schelling

और ज्ञेयकी एकता अस्पष्ट रहती है पर कलामें इन दोनोंका एकत्व स्फुट रहता है। कलाके उपभोग-कालमें ही प्रज्ञा अपने स्वरूपका निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त करती है और साथ ही अनन्त सुख भी होता है। कलामें कर्त्ताकी मानसिक मूर्ति ही कलाके रूपमें परिणत होती है, अर्थात् अनन्त सान्त रूपमें प्रकट होता है। अतएव 'अनन्तका सान्त रूपमें प्रकट होना ही सौंदर्य है।' * शेलिंगके मतसे कला दर्शनशास्त्रसे भी बड़ी है। उनका कहना है कि 'दर्शन शास्त्र ईश्वरकी कल्पना करता है, कला स्वयं ईश्वर रूप है।' † कलाका सौंदर्य प्राकृतिक सौंदर्यसे श्रेष्ठ है। शेलिंगने प्राकृतिक सौंदर्यकी आलोचना नहीं की है।

(१७) मूसा मेन्डेलसोन

मूसा मेन्डेलसोन‡ ने सौंदर्यके स्वरूपके विषयमें कोई विशेष उल्लेख योग्य बात नहीं कही है पर सौंदर्यजन्य आनन्दके विषयमें उन्होंने बड़ी मूल्यवान बात कही है। उन्होंने लिखा है 'यह एक प्रथा सी है कि लोग मनकी ज्ञानशक्तिको इच्छाशक्तिसे भिन्न मानते हैं और सुख-दुःखकी वेदनाको इच्छाशक्तिके अन्तर्गत करते हैं। पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आत्मसुख अथवा आत्मसन्तोष ऐसा है जो इच्छासे बिल्कुल भिन्न है। हम लोग प्रकृति एवं कलाके सौंदर्यको विशुद्ध आनन्द एवं सन्तोषके साथ देखते हैं। सुन्दरकी यह एक विशेषता है कि हम उसके आनन्दका उपभोग शान्ति एवं तृप्तिके साथ करते हैं। सुन्दर वस्तुएँ हमारे अधिकारमें नहीं होतीं और सम्भवतः हम उनका कभी उपयोग कर भी नहीं सकते, फिर भी वे हमें आनन्द देती हैं। सौंदर्यसे उत्पन्न आनन्द निष्काम होता है, वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा तो बादको

* "Beauty is the infinite represented in the form of finite."

† "Philosophy conceives God, art is God", Vide Weber's History of Philosophy, P. 493

‡ Moses Mendelssohn.

अद्वयका वह इन्द्रियग्राह्य रूप है जो कला और प्रकृतिमें देखा जाता है और सत्य वह प्रज्ञा है जो शुद्ध ज्ञानके रूपमें शुद्ध ज्ञान या दर्शन द्वारा अपने वास्तविक रूपमें देखी जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हेगल, काण्टकी भाँति सौंदर्यको केवल मानसिक वृत्ति नहीं मानते। वे वैचित्र्यमें एकत्वको सौंदर्यबोधमें सहायक मानते हैं पर कहते हैं कि यह एकत्व सजीव (आर्गेनिक) एकताके रूपमें होना चाहिये, निर्जीव नहीं। वे स्वर, वर्ण एवं पत्थर आदिको सौंदर्यका इन्द्रिय-ग्राह्य उपकरण मानते हैं। उपकरण एवं आकृतिकी अधिकताके लिहाजसे उन्होंने कलाके ये विभाग किये हैं—(१) स्थापत्य विद्या—इसमें उपकरण या भौतिक पदार्थों (मैटर) की प्रधानता होती है; (२) भास्कर विद्या या मूर्तिनिर्माण-कला (स्कल्पचर)—इसमें उपकरणकी अपेक्षा आकृतिकी अधिकता होती है; (३) चित्रकला—इसमें दोनोंकी अपेक्षा आकृतिकी प्रधानता होती है; (४) संगीतकला—इसमें पूर्वकथित कलाओंकी अपेक्षा आकृति या ज्ञानकी विशेष प्रधानता दिखाई पड़ती है; (५) काव्य—यह सर्वापेक्षा अधिक ज्ञान-प्रकाशक है। हेगलने प्राकृतिक सौंदर्यकी प्रशंसा अवश्य की है पर कलाके सौंदर्यको शेलिंगकी भाँति वे भी प्रधानता देते हैं। उनका कहना है कि कलामें प्रज्ञा या अद्वय अव्यवहित रूपसे इन्द्रियगोचर होता है। हेगलका सौंदर्य-विषयक विवेचन सारगर्भित एवं विचारणीय है। वीज़ी, रूग, रोज़ेन क्रांज़, शास्लर * प्रभृति जर्मन विद्वान् हेगलके मतका ही अल्पाधिक परिमाणमें अनुसरण करते हैं, इसलिए उनके मतोंको पृथक् देनेकी आवश्यकता नहीं है।

(२०) शोपेनहार †

शोपेनहारका सिद्धान्त है कि यह ज्ञाता-ज्ञेयरूप संसार केवल

---

* Weisse, Ruge, Rosenkranz, Schasler.

† Schopenhauer.

इच्छाशक्ति या संकल्प (विल) का परिणाममात्र है। सौंदर्य इसी इच्छा-शक्तिका वाह्य प्रकाश है। प्लेटोकी भाँति ये भी वस्तुओं वा प्राकृतिक शक्तियोंका एक एक मूलरूप (आइडिया) मानते हैं पर भेद यह है कि ये उसे संकल्पके परिणामकी ही एक सीढ़ी मानते हैं। जो वस्तु अपने मूलरूपके जितनी अनुरूप होगी वह उसी परिमाणमें सुन्दर होगी। इनका कहना है कि 'सौंदर्यानुभव' के समय मन इच्छाशक्ति (विल) के बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करके विशुद्ध ज्ञानकी अवस्थामें रहता है। उस समय मनुष्य एक अलौकिक आनन्दमें मग्न रहता है। हम नीचे प्रोफेसर डायसनके शब्दोंमें शोपेनहारके सिद्धान्तको और स्पष्टतासे रखनेकी चेष्टा करेंगे।

प्रोफेसर डायसनने अपने एलिमेण्ट्स आफ मेटाफिजिक्स नामक ग्रन्थके दूसरे भागमें सौंदर्यपर आध्यात्मिक दृष्टिसे विचार किया है। उसमें उन्होंने प्लेटो, काण्ट एवं शोपेनहारके सिद्धान्तोंका समन्वय करके बड़ी योग्यतासे इस विषयकी मीमांसा की है। उसका सारांश यहाँ दिया जाता है:—

यह सारा संसार एक इच्छा या संकल्प (विल)का परिणाम मात्र है। यह इच्छा ही परिणमित होकर क्रमशः स्थूल होती है। पर इस स्थूलीकरणमें इच्छाकी कुछ अवस्थाएँ हैं और ये अवस्थाएँ रासायनिक, मानसिक एवं भौतिक शक्तियाँ (फिजिकल फोर्सेज़) ही हैं। इच्छा ही ज्ञाता और ज्ञेय (सबजेक्ट एंड आबजेक्ट) के रूपमें विभिन्न अवस्थाओंमें होती हुई परिणमित होती है। अब ऐसा होता है कि जहाँ कहीं हमें सौंदर्य दिखाई पड़ता है वहाँ कोई न कोई शक्ति अपनेको व्यक्त करती होती है। अर्थात् हमें वहाँपर किसी शक्तिका साक्षात्कार होता है। पर हम यह जानते हैं कि शक्ति और कुछ नहीं इच्छाके स्थूलीकरणकी प्रक्रियामें एक अवस्था-विशेष (स्टेज) मात्र है, अतएव हम कह सकते हैं कि वहाँपर हमें इच्छाकी ही अवस्था-विशेषका साक्षात्कार हुआ। या यों

कहिये कि इच्छाका ही साक्षात्कार हुआ। अत. जिस वस्तुमें यह इच्छा जिस परिमाणमें किसी अवस्था विशेष या मूलरूप (आइडिया) के रूपमें प्रकट होगी उसी परिमाणमें वह वस्तु सुन्दर होगी। प्लेटोने भी मूलरूप या प्रज्ञाका प्रकाशित होना ही सौंदर्यका रूप माना है पर उन्होंने प्रत्येक वस्तु या गुणकी एक एक प्रज्ञा या निरपेक्षरूप (एबसॉल्यूट आइडिया) माना है। अत इसमें यह त्रुटि पड़ती है कि इस सिद्धान्तके अनुसार हम घृणाको भी सुन्दर कह सकते हैं, यदि वह अपना मूलरूप पूर्णरूपेण व्यक्त कर रही हो। शायसनके मतमें इच्छा ही क्रमश स्थूल होती गयी है अतएव उसमें तारतम्य है। जो वस्तु इच्छाके जितने ही निकट होगी, उतनी अधिक वह सुन्दर होगी। इसीलिए उन्होंने स्थापत्य, भास्कर्य, चित्र, काव्य एवं संगीत कलाओंमें तारतम्य माना है और संगीतकी मनोमोहक एवं सार्वदेशिक शक्तिकी सबसे अधिक प्रशंसा की है, क्योंकि इसमें हमें इच्छाके सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपका साक्षात्कार होता है। इन्होंने सौंदर्य-जन्य आनन्दके निष्काम होनेपर बड़ा ज़ोर दिया है। इन्होंने काण्टके सिद्धान्तको मानकर यह दिखलाया है कि जबतक हम कामना-इच्छा-तृष्णासे ऊपर नहीं उठते, अर्थात् जबतक हम निष्काम नहीं होते, तबतक हमें वास्तविक सौन्दर्यका अनुभव नहीं होता। बल्कि सुन्दर वस्तुओंको प्राप्त करनेकी ज्यों ही हम इच्छा करने लगते हैं त्यों ही उसका सौन्दर्य अन्तर्हित होने लगता है।* इसीलिए ये कहते हैं कि सौन्दर्यानुभवमें ज्ञाता और ज्ञेय दोनोंमें एक परिवर्तन होता है—ज्ञाता तो देश, काल और कार्यकारण भावके बन्धनसे उठकर इच्छारहित अवस्थामें पहुँच

* Nay, the impression of the beautiful fades away in proportion as any relation of the beautiful object to the *desires of the subject* enters his consciousness —*Elements* of Metaphysics P 167.

जाता है और वस्तु (ज्ञेय) अपने मूलरूप (आइडिया) को प्रकाशित करती है जो सकल्पका ही एक स्थूल रूप है। यदि ज्ञाता ऐसी अवस्था में हो कि वह इच्छा तृष्णासे ऊपर उठकर अपने स्वरूपमें स्थित हो तो उसे तमाम वस्तुएँ सुन्दर दिखाई पड़ेंगी अथवा यदि वस्तुमें सकल्प स्फुटतया प्रकाशित होता होगा तो वह ज्ञाताको निष्काम अवस्थामें पहुँचा देगा। यही डायसनके शब्दोंमें शोपेनहारके मतका साराश है।

अब तक हमने पाश्चात्य विद्वानोंका ही मत लिखा है। पूर्वीय पडितोंका कोई उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यह है कि जहाँ तक हमें मालूम है किसी भी भारतीय दार्शनिकने अपने दर्शनशास्त्रके सिद्धान्तके सहारे सौन्दर्यकी व्याख्या करनेकी चेष्टा नहीं की है। ऐसा न करनेके चाहे जो कारण हों पर यह एक कटु सत्य है कि किसीने भी ऐसा नहीं किया है। हाँ, कहीं कहीं किसी किसी पुस्तकमें कुछ ऐसे वाक्य अवश्य मिलते हैं जिनके आधारपर सौन्दर्य विषयक एक निश्चित सिद्धान्त बनाया जा सकता है। श्रीमद्रूप गोस्वामीने अपने 'भक्ति रसामृत सिन्धु' (दक्षिण विभाग प्रथम लहरी) में कहा है—

"भवेत्सौन्दर्यमङ्गाना सन्निवेशो यथोचितम्"

अर्थात् अङ्गोंका यथोचित सन्निवेश ही सौन्दर्य है।

यह विचार उसी कोटिका है जिसमें वे सब पाश्चात्य पण्डित आ जाते हैं जो विश्लेषण प्रणाली द्वारा सौन्दर्य तत्त्वका निर्णय करनेका प्रयास करते हैं अर्थात् जो अनुपात, सममात्रता आदिमें सौन्दर्य मानते हैं। गोस्वामीजीने 'अङ्गोंके यथोचित सन्निवेश' को सौन्दर्य अवश्य कहा है पर 'यथोचित सन्निवेश' का निर्णय कैसे होगा तथा कौन करेगा, इसका कोई जिक्र नहीं किया है। इसी प्रकार गीतामें १० वें अध्यायके ४१ वें श्लोकमें भी ऐसी बात भगवान् कृष्णने कही है जिसके आधारपर एक अच्छा युक्तियुक्त सिद्धान्त स्थापित किया जा सकता है।

भगवान् कहते हैं:—

'यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्त्वं मम तेजोंऽश-संभवम्॥'
(गी० १०-४१)

(हे अर्जुन!) (इस संसारमें) जो जो विभूतियुक्त, कांतियुक्त अर्थात् सुन्दर एवं शक्तियुक्त वस्तु है, उस उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान।

हम देखते हैं कि इस स्थानपर भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि जो भी सुन्दर है वह मेरे ही अंशसे उत्पन्न हुआ है अर्थात् सौंदर्य भी मेरा ही रूप है। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि गीताका सिद्धान्त सौंदर्यके विषयमें क्या है। गीता अद्वैतवादका ग्रन्थ है और *अद्वैतवादके अनुसार सौंदर्यकी अन्य कोई परिभाषा हो ही नहीं सकती।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें जहाँ तहाँ ऐसे विचार पाये जाते हैं जिनके सहारे सौंदर्य तत्वकी भित्ति खड़ी की जा सकती है। वर्त्तमान समयमें कुछ लोग इस ओर ध्यान भी देने लगे हैं। अभी हालमें मैमनसिंहके श्री अभय कुमार गुह, एम. ए., बी. एल. ने 'सौंदर्य-तत्त्व' नामक एक ग्रन्थ बंगलामें लिखा है जिसमें उन्होंने वैष्णव सम्प्रदायके सिद्धान्तके सहारे सौंदर्यकी मीमांसा की है। यद्यपि पुस्तकमें बहुतेरी अनावश्यक एवं अप्रासंगिक बातें आ गयी हैं तथा अनेक ऐसी बातोंकी चर्चा की गयी है जो युक्तियुक्त नहीं कही जा सकतीं पर हम यहाँ उनके खण्डन मण्डनमें न पड़ेंगे। हम तो यहाँ सक्षेपमें ही उनके विचारोंका उल्लेख करेंगे।

लेखक महोदयने श्रीमद्रूप गोस्वामीकी ऊपर उद्धृत उक्तिको स्वीकार करते हुए सौंदर्यकी यह परिभाषा दी है—"प्रकृत पक्षे रसइ सौंदर्येर जीवन। ताहाई सुन्दर याहा अंग-समूहेर यथोचित सन्निवेश द्वारा आमादेर अन्तरे रस जागाय। वस्तु अंग-समूहेर यथोचित सन्निवेश

द्वारा ये परिमाणे रस जागाय, उहा सेई परिमाणे सुन्दर" (सौंदर्य-तत्त्व पृ० १४५) अर्थात् "हमारे मतसे रस ही सौंदर्यका जीवन है। सुन्दर वही है जो अग-समूहके यथोचित सन्निवेश द्वारा हमारे भीतर रस जगावे। वस्तु (अपने) अग समूहके यथोचित सन्निवेश द्वारा जिस परिमाणसे रस उत्पन्न करती है उसी परिमाणमें वह सुन्दर होती है।" आगे चल-कर सौंदर्यका तात्विक रूप निर्णय करते समय उन्होंने कहा है कि यह सारा ब्रह्माण्ड एक सच्चिदानन्दमय पुरुषका प्रकाशमात्र है। इसलिए सौंदर्य इसीका रूप है। इस परम पुरुषकी तीन शक्तियाँ हैं—(१) चिच्छक्ति, (२) जीवशक्ति, (३) मायाशक्ति। मायाशक्ति जगत्के रूपमें परिणत होती है एव जीवशक्ति ससारको धारण करती है। इन दोनों शक्तियोंका सौंदर्य भी भगवान्का ही सौंदर्य है। पर जीव सौंदर्यका कारण जीवात्मा है। और जीव अन्य कुछ नहीं, भगवान्का ही भेदाभेद प्रकाश है। चिच्छक्ति स्वरूप शक्ति है। यह साधना भेदसे ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्के रूपमें प्रकाश पाती है—ज्ञानीके लिए ब्रह्म, योगीके लिए परमात्मा एव भक्तके लिए भगवान्। इन तीनों रूपोंके सौंदर्यमें तारतम्य है। आप लिखते हैं—"महाजन गण बलेन ये ब्रह्मेर सौंदर्य अपेक्षा परमात्मार सौंदर्य श्रेष्ठ, परमात्मार सौंदर्य अपेक्षा भगवानेर सौंदर्य अशेष गुणे श्रेष्ठ" (पृ० २०१ एव २०७) अर्थात् "महाजन गण कहते हैं कि ब्रह्मके सौंदर्यकी अपेक्षा परमात्माका सौंदर्य श्रेष्ठ है एव परमात्माके सौंदर्यकी अपेक्षा भगवान्का सौंदर्य अशेष गुणा श्रेष्ठ है।" यही इनके मतका सारांश है। महाजन गण क्यों ऐसा कहते हैं, ऐसा कहनेका आधार क्या है, इसका लेखक महोदयने कोई जिक्र नहीं किया है। अस्तु।

अब हम अगले अध्यायमें सौंदर्यविषयक अपने मतका प्रतिपादन करेंगे।

चौथा अध्याय

सौन्दर्यकी परिभाषा

व्यक्ति ही सौन्दर्य है।" हमारी समझसे यही एक परिभाषा ऐसी है जो सब अवस्थाओंमें सबका समावेश कर सकती है। यदि पूर्णको अपूर्ण भाषामें वर्णन करना ही पड़े तो वह यही हो सकता है। चाहे भौतिक सौन्दर्य हो, चाहे नैतिक सौन्दर्य हो, अथवा ललितकला विषयक सौन्दर्य हो, यही एक परिभाषा ऐसी है जो उनके लिए उचित एवं युक्तिसंगत हो सकती है। प्रकृतिमें हमें क्यों सौन्दर्य दिखाई पड़ता है? यदि हमारी आत्मा स्वयं सुन्दर न होती और उसीका प्रतिबिंब प्रकृति रूपी शीशेमेंसे न दिखाई पड़ता तो हमें कैसे किसी वस्तुमें सौन्दर्यका बोध होता? प्लोटिनसने कहा है कि—"जो देखता है उसे दृश्यका समजातीय होना चाहिए, तभी वह वस्तुओंको देख सकता है। आँख यदि सूर्यके समान न होती तो सूर्यको कदापि न देख सकती। इसी प्रकार यदि मन स्वयं सुन्दर न होता तो वह कदापि सुन्दरको न देख सकता।"*

प्लोटिनसके 'मन' (माइण्ड) के स्थानमें 'आत्मा' रख देनेसे हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा। तात्पर्य यह है कि हमारी आत्मा सत्य, शिव, एवं सुन्दर है, इसीलिए हमें प्रकृतिमें सौंदर्य दिखाई पड़ता है। हम आगे चलकर यह दिखलावेंगे कि 'जो पिण्डमें है वही ब्रह्माण्डमें है।' यहाँ तो हमें यही दिखाना अभीष्ट है कि भौतिक सौंदर्य आत्माके प्रतिबिम्बके सिवाय और कुछ नहीं। हम किसी गगनचुम्बी पर्वतको देखकर क्यों प्रसन्न होते हैं? इसीलिए कि वहाँ हमारी अचलता, कूटस्थता स्फुट होती है। आकाश एवं कूलविहीन जलधिको देखकर हमें

---

* That which sees must be kindred and similar to its object before it can see it The eye could never have beheld the sun, had it not become sunlike The mind could never have perceived the beautiful, had it not first become beautiful itself —(Enneades i 6 9

जो अलौकिक आनन्द होता है, वह इसीलिए कि वहाँ हमारी अनन्तता प्रकट होती है। इसी प्रकार जहाँ कहीं प्रकृतिमें हमें सौंदर्य दिखाई पड़ता है, वहाँ हमारी आत्माका ही कोई न कोई रूप दिखाई पड़ता है। भूलसे, भ्रमसे हम उसे अर्थात् सौंदयको वस्तुओंका गुण मान लेते हैं।

इसी प्रकार नैतिक सौंदर्य भी है। जब कोई आदमी अपना कर्तव्य पालन करते करते प्राण विसर्जन कर देता है, तब हमारे मुँहसे सहसा ये शब्द निकल पड़ते हैं कि 'उसने बड़ा सुन्दर कार्य किया है।' हमें कहना चाहिए था कि 'अच्छा कार्य किया है' पर हम 'अच्छा' की जगह 'सुन्दर' शब्दका भी प्रयोग करते हैं। इससे जान पड़ता है कि अदार्शनिक बुद्धि भी सुन्दर और उत्तम या शिव (गुड) में अभेद ज्ञान रखती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि नैतिक सौंदर्य (मारल ब्यूटी) भी आत्माकी अभिव्यक्ति ही है।

कलाके सौंदर्यकी भी कोई भिन्न दशा नहीं है। कलाका सौंदर्य तो स्पष्ट ही पिण्डात्माका सौंदर्य है, शरीरीका सौंदर्य है। कलामें वर्ण, स्वर, प्रस्तर आदिके पर्देमेंसे मानवी आत्मा ही प्रतिबिम्बित होती है। स्थापत्य, भास्कर्य, चित्र, सगीत एव काव्यमें पर्दा क्रमश उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता जाता है, यहाँ तक कि कवितामें नहीं के बराबर हो जाता है। इसीलिए काव्यके सौंदर्यको लोग इतना महत्त्व देते हैं। हम आगे चलकर कलाके सौंदर्यके विषयमें एक पृथक् अध्यायमें विचार करेंगे। यहाँ तो हमें यही दिखलाना है कि कलामें जो सौंदर्य है वह आत्माकी ही अभिव्यक्ति है। आत्माकी मानसी मूर्ति ही कलाके रूपमें अभिव्यक्त होती है। कहींपर वैचित्र्यमें एकत्व द्वारा आत्माकी एकता प्रकट होती है, तो कहीं उसकी सर्व व्यापकता, कहीं मनके भिन्न भावोंकी अभिव्यक्ति द्वारा वह हमें अपने स्वरूपका ज्ञान कराती है तो कहीं सकेत द्वारा।

ऊपर हमने दिखलाया है कि आत्माकी अभिव्यक्ति ही सौंदर्य है

और यह हमें तब दिखाई पड़ता है जब ज्ञाता एवं ज्ञेयके पिण्डमें रहनेवाली आत्मा तथा ब्रह्मांडमें रहनेवाली आत्मा या ब्रह्मकी एकता होती है। हमने यह भी कहा है कि जो पिण्डमें है वही ब्रह्माडमें है। पर इतना कह देनेसे ही सौंदर्यका विषय समाप्त नहीं हो जाता। अभी हमें यह पता लगाना पड़ेगा कि वह 'आत्मा' क्या है जिसकी अभिव्यक्तिका नाम सौंदर्य है। बिना इस बातका निश्चय हुए हमें सौंदर्यका तात्विक रूप समझनेमें कोई सहायता नहीं मिल सकती। अभीतक तो हमने सौंदर्यकी केवल परिभाषा दी है। उसका तात्विक रूप क्या है, सौंदर्य तत्वतः है क्या, यह बताना अभी शेष है।

इस बातका पता लगानेके लिए कि सौंदर्य तत्वत क्या है, हमें इस जड़ एव चेतन जगत्के मूलमें जाना पड़ेगा। हमें इस बातकी मीमासा करनी होगी कि जिन वस्तुओंको हम सुन्दर कहते हैं वे क्या हैं एव वर्ण, स्वर, प्रस्तर प्रभृति जो सौंदर्य बोधके उपकरण-समूह हैं, वे मूलत क्या हैं? वर्णके विषयमें, जो सौंदर्यबोधमें बहुत बड़ा सहायक है, वैज्ञानिकोंका कथन है कि वह आलोकका ही धर्मविशेष है। वस्तुएँ जो भिन्न भिन्न रगकी देख पड़ती हैं वह उनका अपना रंग नहीं है, सूर्यकी रश्मियोंका रग है। सूर्यकी रश्मि, जो सफेद दिखाई पड़ती है, एक रगकी नहीं। वह लाल, हरे, पीले, नीले आदि रंगोंकी रश्मियोंसे मिलकर श्वेत रश्मिके रूपमें प्रकट होती है। तिनपहले काँचके ऊपर सूर्यालोक डालनेसे उसकी मूल रश्मियाँ विभक्त हो जाती हैं। जो वस्तु हरित रगकी दिखाई पड़ती है उसमें यह एक विशेष गुण होता है अथवा यों कहिये कि उसके परमाणुओंका इस तरह गठन हुआ रहता है कि वह सफेद रश्मियोंका विश्लेष करके और रगोंकी रश्मिओंको लोप कर देती है तथा केवल हरी रश्मिको प्रत्यावर्तित (रिफलेक्ट) करती है। इसी प्रकार लाल रश्मियोंको प्रत्यावर्तित करनेवाली वस्तुको हम लाल कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यावर्तित होनेवाली सूर्य रश्मियोंके रगको ही हम

वस्तुका रंग मान बैठते हैं। वास्तवमें वस्तुओंका कोई रंग नहीं होता। यह बात इससे भी ठीक जान पड़ती है कि हमें अंधेरेमें कोई रंग नहीं दिखाई पड़ता। यदि रंग वस्तुओंका धर्म होता तो अन्धेरेमें भी रहता। इससे तो यही सिद्ध होता है कि आलोकमें ही रग है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि वस्तुमें रग न होता तो गम्भीर जलमें रहनेवाली मछलियों, मनुष्यकी अस्थियों एवं रक्त तथा खानोंमेंसे निकलनेवाले पदार्थोंका भिन्न भिन्न रंग क्यों माना जाता है? इसका उत्तर भी यही है कि ये वस्तुएँ जब आलोकमें आती हैं तभी उनका रग निश्चित होता है।

अब देखना है कि आलोक स्वयं क्या है? इस विषयमें विज्ञान हमें बतलाता है कि आकाशमें—शून्यमें—विशेष प्रकारकी तरगें उठती रहती हैं। ये स्वत नहीं उठतीं, जब भौतिक द्रव्य एक विशेष अवस्था में होते हैं तभी उनमें कम्पन होकर ये तरगें उत्पन्न होती हैं। इनके आधारस्वरूप 'ईथर' नामके एक पदार्थकी कल्पना की गयी है। इन तरंगों और चक्षुरिन्द्रियके संयोगसे प्रकाशकी अनुभूति होती है। ईथरके चार सौ लक्ष कोटि बार प्रति सेकण्ड स्पन्दन होनेसे हमें लाल वर्णका ज्ञान होता है। इस स्पन्दन-संख्यामें क्रमसे वृद्धि होनेपर हमें पीले, हरे इत्यादि रगोंका ज्ञान होता है। परन्तु स्पन्दन मात्रा क्रमसे पूर्वोक्त सख्याकी दुगुनी होनेसे मनुष्यको कोई रग नहीं दिखाई पड़ सकता। हमारी आलोकानुभूति उस स्पन्दनमें लुप्त हो जाती है। यह ईथर है भी या नहीं, जिसको हम द्रव्य कहते हैं उसकी शक्तिसे भिन्न कोई सत्ता है भी या नहीं, इन प्रश्नोंका विज्ञान ठीक उत्तर नहीं दे सकता।

इसी प्रकार शब्दको वायुके स्पन्दनका कार्य माना गया है। प्रति सेकण्ड १६ बार वायुके कम्पन तक हम शब्द सुन सकते हैं, इसके नीचे नहीं, एवं प्रति सेकण्ड ४८००० बारसे अधिक स्पन्दन होनेसे हमें कोई शब्द नहीं सुनाई देता। इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञानके अनुसार वर्ण एवं स्वर स्पन्दनके ही परिणाम हैं, वह भी परिमित अवस्थामें। यह

स्पन्दन क्या है, कैसे होता है, इस विषयमें विज्ञान हमें बहुत आगे नहीं बढ़ाता। कुछ लोग अवश्य ही बाध्य होकर एक अदृश्य शक्तिकी कल्पना करते हैं।

रूपके विषयमें भी विज्ञानका यही कहना है कि पृथ्वीके समस्त पदार्थोंका रूप आणविक आकर्षण एवं तापके ऊपर निर्भर करता है। आणविक आकर्षण द्वारा अणु परस्पर गठित होते हैं पर यदि केवल आकर्षण ही एक शक्ति होती तो अणु परस्पर इस तरह चिपट जाते कि उनका पृथक् करना सम्भव ही न होता। किन्तु जगत्में ताप भी है जो आणविक आकर्षणका प्रतियोगी है, और विपरीत दिशामें कार्य करता है। अस्तु, संसारमें वस्तुएँ जो तीन अवस्थाओं अर्थात् कठिन (सालिड), तरल (लिक्विड) एवं वायवीय (गैसियस) रूपमें पायी जाती हैं, वह आणविकआकर्षण एवं ताप इन दो प्रतियोगिनी शक्तियोंका कार्य मात्र है।

ऊपरके विवेचनसे ज्ञात होगा कि सौंदर्य-बोधके प्रधान अंग-समूह रंग, रूप, एवं स्वर किसी अज्ञात शक्तिके कार्य मात्र हैं। अब हमें इस बातका पता लगाना चाहिये कि जिन परमाणुओंपर शक्ति कार्य करती है, वे परमाणु स्वयं क्या हैं? इस विषयके अन्वेषणमें भी हम सर्व-प्रथम विज्ञानसे ही सहायता लेंगे।

आजकल विज्ञान बड़ी द्रुतगतिसे आगे बढ़ रहा है। अबतक रसायन शास्त्रका कहना था कि इस जगत्में ७० या ८० मूलपदार्थोंके परमाणु पाये जाते हैं। प्रत्येक श्रेणीके मूलपदार्थके स्वतन्त्र परमाणु हैं तथा इन सब परमाणुओंके कुछ स्वाभाविक धर्म हैं। ये स्वाभाविक धर्म किसी अवस्थामें भी परिवर्तित नहीं हो सकते। पर आजकल ऐसे ऐसे आविष्कार हुए हैं जिनसे इस परमाणुवादकी जड़ हिल गयी है। प्रोफेसर डीवरने प्रयोग द्वारा यह दिखला दिया है कि मारनपदार्थ ओषजन (आक्सिजन) को अत्यधिक शीतल करनेसे पहले तो वह तरल होता

है, फिर कठिन और उस अवस्थामें उसके सब स्वाभाविक धर्म नष्ट हो जाते हैं, यहाँतक कि मूल पदार्थके साथ मिश्रित होनेकी क्षमता भी जाती रहती है। परीक्षा द्वारा यह भी देखा गया है कि फ्लूरिन* आदि मारतपदार्थ भी अधिक शीतल करने पर अपने स्वाभाविक धर्मोंको त्याग देते हैं। केवल अतिशय ठण्डा होनेकी अवस्थामें ही नहीं प्रत्युत अतिशय उत्तापमें भी सब मूलपदार्थ अपने स्वाभाविक धर्मोंको नहीं रखते। सर नार्मन लाकियरने प्रयोग करके दिखलाया है कि उत्तरोत्तर उत्तापकी वृद्धि करनेसे मौलिक पदार्थसमूह सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर अशोंमें विभक्त होते होते अतिपरमाणु (आइऑन) के आकारके हो जाते हैं। विभिन्न उत्तापमें उत्तप्त नक्षत्रोंकी परीक्षा करनेसे देखा गया है कि जो सबसे अधिक तापमें तप्त हैं, उनमें मौलिक पदार्थोंकी सख्या बहुत कम है। पर ज्यों ज्यों अपेक्षाकृत कम गर्म नक्षत्रोंको देखा जाता है, त्यों त्यों अधिक सख्यामें मूलपदार्थ पाये जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि जिन्हें हम अबतक मूलपदार्थोंके परमाणु मानते आये हैं, वे वास्तव में मूलपदार्थ नहीं हैं, वे तो उत्तापके ह्रासके कारण सूक्ष्मतम परमाणुओं-से बने हैं। अबतक हम किसी पदार्थको पारदर्शक (ट्रासपेरेण्ट) एव किसीको अपारदर्शक कहा करते थे। जिस वस्तुको छेदकर आलोक उस पार जा सकता है उसे पारदर्शक एव जिसे छेदकर रोशनी दूसरी ओर नहीं जा सकती उसे अपारदर्शक (ओपेक) कहते थे। पर रजन रश्मि या एक्स रेज़† के आविष्कारसे इस विश्वासपर भी कुठाराघात हुआ है। वैज्ञानिकोंने एक ऐसी रश्मिका पता लगाया है जो अपारदर्शक पदार्थोंका भी भेदन कर सकती है। मनुष्यके शरीरके भीतरकी हड्डियों एव अँतड़ियों तथा कठिन दीवार आदिको भी यह रश्मि भेदन कर सकती है। मतलब यह कि पारदर्शकता एव अपारदर्शकता वस्तुके धर्म नहीं रहे।

* Fluorine

† Rontgen or X Rays

सर विलियम क्रुक्सने सर्वप्रथम जब एक ऐसे नूतन पदार्थकी बात कही थी, तब उस समय किसीने उनपर विश्वास नहीं किया था। प्राय वायु शून्य काँचकी एक नलीमें दोनों किनारे बैटरी लगाकर विद्युत् चलानेसे नलके बीचमें एक बेंगनी रगका आलोक देखा जाता है। क्रुकसने परीक्षा करके देखा कि इस आलोकमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म उज्ज्वल अणु अत्यन्त वेगसे प्रवाहित होते हैं। उन्होंने इस विद्युत्कणिकाका नाम प्रोटाइलछ रखा। उनका कहना था कि समस्त जड़ परमाणु विभक्त होकर इसी प्रोटाइलके आकारको धारण करते हैं एव विविध मूल पदार्थोंके परमाणु इसी प्रोटाइलसे बने है। क्रुक्स साहबकी बातपर पहले किसीने ध्यान नहीं दिया पर जब जे० जे० टामसन, सर नार्मन लाकियर आदि भी क्यायोड नली (वायुशून्य काँचकी नली) द्वारा परीक्षा करके इसी परिणामपर पहुँचे, तबसे इस विद्युत्कणिका (इलेक्ट्रान्स) के अस्तित्व को सभी वैज्ञानिकोंने स्वीकार कर लिया है एव अब यही माना जाने लगा है कि जिन्हें हम मूल परमाणु मानते थे वे इसी तडित्कणसे बने हैं। सर नार्मन लाकियर अपने 'इनार्गेनिक इवोल्यूशन' नामक ग्रन्थमें लिखते हैं—† 'केवल इतना ही नहीं है कि मौलिक पदार्थोंके परमाणु विभिन्न अतिपरमाणुओंसे बने हैं किन्तु प्रत्येक रासायनिक श्रेणीका प्रत्येक पदार्थ सम्भवत एक जातीय अतिपरमाणुओंसे ही बना है। परमाणुओंका

---

* Protyle

† Not only is the atom a complex compound of an association of different ions, but atoms of those substances which lie in the same chemical group are perhaps built up from the same kind of ions and that the differences existing in the materials thus constituted arise more from the manner of association of ions in the atoms, than from differences in the fundamental character of the ions which go to build up the atoms

गठन अतिपरमाणुओंकी धर्म विभिन्नताकी अपेक्षा उनके समवायके ढंग पर अधिक निर्भर करता है।"

जबसे रेडियम, यूरेनियम, एक्टीनियम* आदि कई एक धातुओंके वियोग एवं तेजोनिर्गममकी क्षमताका आविष्कार हुआ है, तबसे विज्ञानने एक नया रूप धारण कर लिया है। आज कल रेडियमकी विशेष चर्चा सुननेमें आती है। परीक्षा द्वारा देखा गया है कि इस रेडियममेंसे एल रश्मि† (वियोग संज्ञक), आर रेज़‡ (योग संज्ञक) एवं एक्स-रेज़ (देश भेदी) के तडित्कण चारों ओर निकला करते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकारके वायवीय एवं कठिन पदार्थ भी इस रेडियमकी क्रमिक अवनतिसे बनते हैं अर्थात् एक ही रेडियमसे विभिन्न पदार्थोंके परमाणु बनते हैं। इसलिए बाध्य होकर वैज्ञानिकगण अब कहने लगे हैं कि समस्त जड़ पदार्थोंके मूल परमाणु इलेक्ट्रान (सूक्ष्म तडिदणु) से ही बने हैं। ये इलेक्ट्रान्स इतने सूक्ष्म हैं कि प्रायः सत्तरह सौ इलेक्ट्रान एकत्र करनेसे एक हाईड्रोजनके परमाणुके बराबर होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जड़ जगत्के मूल कारणके विषयमें प्राचीन एवं अर्वाचीन वैज्ञानिकोंमें कुछ मतभेद है। प्राचीन वैज्ञानिकों (रसायन शास्त्रियों) का कहना है कि ७० या ८० प्रकारके मूल परमाणुओंसे ही यह जगत् बना है। ईथरमें स्पन्दन होनेसे हमें जड़ जगत् स्थूल रूपमें दिखाई पड़ता है तथा उसका स्पन्दन बन्द हो जानेसे यह अपनी स्वाभाविक अवस्थामें परिणत होकर हमारी इन्द्रियोंके लिए अग्राह्य हो जाता है। लार्ड केल्विन, निकोला टेसला प्रभृति पण्डितगण इस मतके आचार्य हैं। दूसरी ओर जे० जे० टामसन, सर औलिवर लाज, रदरफोर्ड, अध्यापक रेम्ज़े आदि विद्वान् हैं जिनका कहना है कि

---

* Radium, Uranium Actinium

† L Rays

‡ R. Rays.

इलेक्ट्रान्ससे ही विद्युत्, आलोक, ताप एवं चुम्बक शक्ति उत्पन्न होती है अर्थात् स्थूल जगत्‌के मूल इलेक्ट्रान्स ही हैं। पर यह मतभेद होते हुए भी एक बात दोनोंमें समान रूपसे पायी जाती है और वह है शक्तिका अस्तित्व। अब अधिकांश वैज्ञानिक इस बातको मानने लगे हैं कि जड़ जगत् एवं उसपर क्रिया करनेवाली विद्युत्, आलोक, ताप आदि भौतिक शक्तियोंके मूलमें एक अदृश्य शक्ति है। सर विलियम क्रुक्सने कुछ वर्ष पूर्व ब्रिस्टल ब्रिटिश समितिके सामने सभापतिकी हैसियतसे गण्यमान्य वैज्ञानिकोंके सम्मुख वक्तृता देते हुए कहा था कि 'जड़ वस्तु (मैटर) और भौतिक शक्ति (इनर्जी) के मूलमें जो सूक्ष्म शक्ति (सटिल फोर्स) है, उसीका अन्वेषण करना भविष्यमें वैज्ञानिकोंका काम होगा।' इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य वैज्ञानिक जड़ जगत्‌के मूलमें एक शक्तिकी सत्ताको स्वीकार करते हैं। हेकल, टाम्सन आदि विद्वान् इसी शक्तिको संसारका मूल कारण मानते हैं पर ध्यान रहे कि यह शक्ति उनके मतसे अद्वैत एवं जड़ है। अबतक शक्तिके लिए 'फोर्स' एवं 'इनर्जी' दो शब्दोंका प्रयोग होता था। 'फोर्स' उस शक्तिका नाम है जो वस्तुओंको केन्द्रकी ओर आकर्षित करती है और 'इनर्जी' वह शक्ति है जो केन्द्रसे बाहरकी ओर कार्य करती है। दोनों शक्तियाँ अबतक परस्पर प्रतियोगी एवं पृथक् पृथक् समझी जाती थीं। पर अब शक्तिके लिए एक 'फोर्स' शब्दका ही प्रयोग होता है, और यह 'फोर्स' ही जगत्‌का मूल उपादान कारण समझा जाता है। यह (फोर्स या) शक्ति विश्वव्यापिनी है।

पाश्चात्य विद्वानोंके मतसे ऊपर हमने दिखलानेका यत्न किया है कि जड़ जगत्‌का मूल कारण वे एक जड़ परन्तु विश्वव्यापिनी शक्तिको मानते हैं। हेकल तो इसी अद्वैत तथा जड़ शक्तिको चेतन एवं जड़ जगत्‌का मूल कारण मानते हैं। अपने विश्वप्रपंच (रिडिल आफ दि यूनीवर्स) नामक ग्रन्थमें उन्होंने विकासवादका अनुसरण करके यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि एक ही जड़ शक्तिसे इस चेतन एवं अचेतन जगत्‌का

क्रमिक विकासके द्वारा प्रादुर्भाव हुआ है। इस शक्तिके विषयमें हम आगे चलकर फिर विचार करेंगे। इस स्थानपर कुछ पूर्वीय दार्शनिकोंके मतकी भी छानबीन कर देख लेना चाहिए कि इस विषयमें भारतीय ऋषि एवं विद्वान् क्या कहते हैं।

पाश्चात्य परमाणुवादी डाल्टनकी भाँति हमारे यहाँ भी कणादने परमाणुवादका प्रचार किया था। आजकल न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही एक हो गये हैं इसलिए दोनोंको नैयायिक ही कहा जाता है। परमाणुओंकी परिभाषाके विषयमें पूर्वीय एवं पाश्चात्य विद्वानोंमें मतैक्य है। किसी भी पदार्थका विभाग करते करते अन्तमें जब विभाग न हो सके, उसीका नाम परमाणु है। भेद केवल इतना ही है कि पाश्चात्य परमाणुवादी ७० या ८० मूल पदार्थोंके परमाणु मानते हैं पर कणादने केवल चार प्रकारके—(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) अग्नि एव (४) वायुके ही—परमाणु माने हैं। विचार करके देखनेसे ज्ञात पड़ेगा कि भेद केवल शब्दोंका है, सिद्धान्तका नहीं। पाश्चात्य विद्वानों (परमाणुवादियों) ने ७०–८० मूल परमाणुओंको मानते हुए भी भूत या वस्तुको तीन अवस्थाओंमें माना है—(१) कठिन (२) तरल, (३) वायवीय। तेजोजातीय ताप, आलोक आदिको वे शक्ति मानते हैं। कणादने मूल परमाणुओंको व्यक्तिके अनुसार नहीं प्रत्युत जातिके अनुसार बाँटा है। जितने पदार्थ हमें कठिन या ठोस (सालिड) अवस्थामें देख पड़ते हैं, उन सबको पृथ्वीके परमाणुके नामसे, तरल जातीय पदार्थोंको जल, तेजोजातीय पदार्थोंको अग्नि एवं वायवीय पदार्थोंको वायुके नामसे पुकारा है। अस्तु। नैयायिकोंका सिद्धान्त है कि जगत्का मूल कारण परमाणु ही हैं। जैसे जैसे ये परमाणु एकत्र होते जाते हैं वैसे वैसे संयोगके कारण उनसे नये नये पदार्थ उत्पन्न होते जाते हैं। उन्होंने मनको भी परमाणु रूप माना है और जब आत्मासे उसका संयोग होता है तब उसमें चैतन्य गुणकी उत्पत्ति होती है। पृथ्वी, जल, तेज,

एव वायुके परमाणु स्वभावसे ही पृथक् पृथक् हैं। यह ससार पहलेसे ही इन सूक्ष्म और नित्य परमाणुओंसे भरा है। जब इन परमाणुओंके सयोगका 'आरम्भ' होता है, तब सृष्टिमें व्यक्त पदार्थ बनने लगते हैं। पर नैयायिक इस बातका समुचित उत्तर नहीं दे सके कि परमाणुको प्रथम गति कैसे मिली। कुछ नैयायिक इस आपत्तिसे बचनेके लिए एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा अन्य गुणोंसे युक्त ईश्वरकी कल्पना करते हैं एव उसे जगत्का निमित्त कारण मानते हैं, पर वेदान्तियोंने 'परमाणुवाद' और 'ईश्वर केवल निमित्त कारण है' इस मतका भी बड़ी खूबीसे खण्डन किया है (देखो वेदान्तसूत्र २–२–११ से १७ सूत्रतक और २–२–३७–३९ सूत्र)। जिस प्रकार विकासवाद या उत्क्रान्ति वाद (इवोल्यूशन थ्यूरी) ने पश्चिममें डाल्टनके परमाणुवादकी जड़ हिला दी, उसी प्रकार भारतवर्षमें कपिलाचार्यके साख्यदर्शनने कणादके परमाणुवादकी भित्ति गिरा दी। साख्यका सर्वप्रथम सिद्धान्त यह है कि इस ससारमें कोई भी नयी वस्तु उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि अभावसे भाव नहीं उत्पन्न हो सकता। जो पहले था ही नहीं वह पैदा कैसे हो जायगा ? शून्यसे शून्यके सिवाय और कुछ नहीं उत्पन्न हो सकता। इसलिए यही मानना पड़ेगा कि कार्यमें अर्थात् उत्पन्न हुई वस्तुमें जो गुण देख पड़ते हैं वे कारणमें अर्थात् जिससे वह वस्तु उत्पन्न हुई है उसमें सूक्ष्म रूपसे अवश्य होने ही चाहिए (देखिये सांख्यकारिका ९)। बौद्ध और कणाद यह मानते हैं कि एक वस्तुका नाश होकर दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है—बीजका नाश होनेसे अकुर एव अकुरका नाश होकर उससे पेड़ पैदा होता है। परन्तु साख्यशास्त्रियों एव वेदान्तियोंने इस मतका खण्डन किया है। उनका कहना है कि पेड़के सभी गुण बीजमें वर्तमान हैं, बीजमें जो द्रव्य हैं उनका नाश नहीं होता (देखिये वेदान्तसूत्र, शाकर भाष्य २–१–१८)। छादोग्योपनिषत्में भी एक स्थानपर आया है कि "कथमसत सज्जायेत" (छा० ६–२–२) अर्थात् 'असत्से सत्

कैसे उत्पन्न हो सकता है ?' हम देखते हैं कि दूधसे ही दही बनता है, पानीसे नहीं, तिलोंसे ही तेल निकलता है, रेतसे नहीं। यदि नयी वस्तु का उत्पन्न होना माना जायगा तो फिर इसका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकेगा कि पानीसे दही क्यों नहीं बनता एव रेतसे तेल क्यों नहीं निकलता, दूध एव तिलोंसेही क्यों निकलता है ? साराश यह कि जो मूलमें है ही नहीं, उससे-अभी जो अस्तित्वमें है-वह पैदा हो नहीं सकता। इसीलिए साख्यवादियोंने यह सिद्धान्त निकाला है कि किसी कार्यके वर्तमान द्रव्यांश और गुण मूल कारणमें किसी न किसी रूपमें रहते हैं। इसी सिद्धान्तको 'सत्कार्यवाद' कहते हैं। आजकलके पदार्थ विज्ञानके ज्ञाता पडितोंने भी इसी सिद्धान्तको प्रयोग द्वारा सिद्ध कर दिया है और कहा है कि पदार्थोंके जड़ द्रव्य एव कर्मशक्ति दोनों सर्वदा मौजूद रहते हैं। उनके चाहे जितने रूपान्तर किये जायँ तो भी अन्तमें सृष्टिके कुल द्रव्यांशका एव कर्मशक्तिका जोड़ बराबर बना रहता है। उन्होंने यह सिद्ध करके दिखला दिया है कि जलते हुए दीपकका धुआँ, कजली एव अन्य सूक्ष्म द्रव्योंको एकत्र करके तौलनेसे उनका वजन तेल और तेलके जलते समय उसमें मिले हुए वायुके पदार्थोंके वजनके बराबर ही होगा। यही बात गीतामें "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत" (असत्का भाव एव सत्का अभाव नहीं हो सकता—गी० २-१६) इस रूपमें कही गयी है। अस्तु।

इस प्रकार साख्यके मतानुसार यही सिद्ध होता है कि सृष्टि किसी न किसी पदार्थसे उत्पन्न हुई है और इस समय सृष्टिमें जो गुण हमें देख पड़ते हैं वे ही इस मूल पदार्थमें भी होने चाहिये। पर सृष्टिमें तो वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य, सोना, लोहा, पत्थर आदि अनेक पदार्थ देख पड़ते हैं जिनमें परस्पर भिन्नता है। इस विषयमें सांख्यका यही सिद्धान्त है कि यह भिन्नता या नानात्व आदिम अर्थात् मूल पदार्थमें नहीं है। मूलमें तो सब वस्तुओंका द्रव्य एक ही है। पीछे हम देख आये हैं कि

इस समय अर्वाचीन रसायन-शास्त्रज्ञ भी यही मानने लगे हैं कि भौतिक पदार्थोंके मूलमें एक ही द्रव्य है और उसीसे सूर्य, चन्द्र, तारे एवं पृथ्वी आदि उत्पन्न हुए हैं। सांख्यके मतानुसार इस मूल द्रव्यका नाम 'प्रकृति' है। इसे प्रधान, गुणक्षोभिणी, बहुधानक, प्रसव-धर्मिणी आदि नामोंसे भी पुकारते हैं। वेदान्ती इसीको 'माया' कहा करते हैं। इस मायाके विषयमें हम फिर विचार करेंगे। अभी तो सांख्य-मतानुसार हमें देखना है कि कैसे एक ही प्रकृतिसे इस इतने बड़े संसारका फैलाव होता है।

यद्यपि सब पदार्थोंका मूल एक प्रकृति तो सिद्ध हुई तथापि यदि इस मूलप्रकृतिमें गुण भी एक ही हो तो सत्कार्यवादानुसार एक ही गुणसे अनेक गुणोंकी उत्पत्ति नहीं सिद्ध हो सकती और संसारमें तो यही मिलता है। इसलिए सांख्य-शास्त्रियोंने प्रकृतिका निरीक्षण करके उसमें पाये जानेवाले गुणोंको तीन श्रेणियोंमें बाँट दिया है (१) सत्वगुण, (२) रजोगुण एवं (३) तमोगुण। विचार करनेसे जान पड़ेगा कि प्राकृतिक वस्तुओंके निरीक्षणसे हम भी इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं। हमें संसारमें प्रथमतः दो प्रकारके पदार्थ देख पड़ते हैं—'चर' और 'अचर'। 'चर' प्राणियोंमें भी दो भेद हैं—(१) केवल सहज प्रवृत्तिसे काम लेनेवाले पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि, और (२) बुद्धिसे काम लेनेवाले मनुष्य एवं उससे नीची श्रेणीके कुछ प्राणी। इस प्रकार हम इस जगत्के समस्त पदार्थोंको तीन गुणसे ही युक्त पाते हैं—(१) मोह-जड़ता, (२) प्रवृत्ति, और (३) ज्ञान। इन्हीं तीनोंको सांख्य-शास्त्रियोंने क्रमसे 'तम', 'रज', एवं 'सत्व' नाम दिया है। तमका लक्षण है अज्ञानता, रजका लक्षण है प्रवृत्ति और सत्व गुणका लक्षण है ज्ञान या जानना। अतः सांख्यवादी इस मूल प्रकृतिको त्रिगुणात्मिका मानते हैं। इन्हीं तीन गुणोंके सम्मिश्रण तथा विकाससे संसारके सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिए कि यद्यपि

इन तीन गुणोंसे ही सारे संसारकी उत्पत्ति हुई है, फिर भी ये गुण कभी अलग अलग नहीं रह सकते। सब पदार्थोंमें तीनों मिले रहते हैं। हाँ, किसीमें सत्वका उत्कर्ष रहनेसे 'रज एव 'तम' दबे रहते हैं, तो किसीमें 'रज' के आधिक्यसे सत्व एव तम अप्रकट-से रहते हैं। इसी प्रकार कहीं तमका अधिक उत्कर्ष होता है। इस उत्कर्षको देखकर ही हम किसी वस्तुको सत्वगुण सम्पन्न, रजोगुणी या तमोगुणी कहा करते हैं।

अब पाश्चात्य विकासवादी भी किसी हद तक इस सिद्धान्तको मानने लगे हैं। हेनरी बर्गसॉने, जो आजकल बड़े प्रसिद्ध एव विचारशील दार्शनिक माने जाते हैं, अपने "क्रियेटिव इव्हाल्यूशन" नामक ग्रन्थमें कुछ कुछ इसी प्रकारका सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। अपनी पुस्तकके द्वितीय अध्यायमें उन्होंने मूल जीवनी शक्तिमें तीन भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ मानी हैं जो परस्पर भिन्न होनेपर भी मूलमें एक साथ मिली रहनेके कारण कभी अकेली अपने शुद्ध रूपमें नहीं पायी जातीं। तीनोंका विकास तीन भिन्न भिन्न दिशाओंमें हुआ है। एकको वे मोह या प्रसुप्तता, दूसरीको सहज प्रवृत्ति एव तीसरीको बुद्धि या ज्ञान कहते हैं। अपनी पुस्तकके १४२ वें पृष्ठपर वे लिखते हैं—

"वानस्पतिक मोह (तम), सहज प्रवृत्ति (रज), और बुद्धि या ज्ञान (सत्व)—ये ही तीन अंग हैं जो (प्रारम्भमें) वनस्पतियों एव जानवरोंमें समान रूपसे रहनेवाली जीवनी प्रवृत्तिमें एकीभूत थे, और जो, उस वृद्धि या उन्नतिके सिलसिलेमें जिसमें कि वे अत्यन्त अपूर्वदृष्ट रूपोंमें व्यक्त हुए, विकासके कारण ही पृथक् पृथक् हो गये। अरस्तूसे लेकर अबतक जो प्रधान भूल हुई है, जिसने प्राकृतिक दर्शनको दूषित कर रखा है, वह यह है कि लोग वानस्पतिक, सहज प्रवृत्तिमूलक एव बौद्धिक जीवनमें एक ही मूल प्रवृत्तिके विकासकी तीन क्रमिक मात्राएँ समझते आये हैं, जब कि ये तीनों विकसित होते समय विभक्त होने

वाली एक क्रियाकी तीन भिन्न भिन्न दिशाएँ हैं। इन तीनोंमें घनता या मात्राका अन्तर नहीं है, प्रत्युत इनके प्रकारमें ही भेद है।"*

इस प्रकार हम देखते हैं कि अब पाश्चात्य पंडितगण भी सांख्यकी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके समान एक तत्त्व मानने लगे हैं। सांख्य शास्त्रने प्रारम्भमें अर्थात् सृष्टिके पहले सत्व, रज एवं तम इन तीनों गुणोंको साम्यावस्थामें रहनेवाला माना है। यदि हम इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको ही प्रकृति कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस प्रकृतिमें परमाणु रूप अवयव भेद नहीं है। वह सदैव एकसी लगी हुई बीचमें तनिक भी अन्तर न छोड़ती हुई, एक समान है अथवा यों कहिये कि वह अव्यक्त और निरवयव रूपसे निरन्तर और सर्वत्र है। सृष्टिके आदिमें प्रत्येक पदार्थ सूक्ष्म और अव्यक्त प्रकृतिके रूपमें रहता है। फिर वह व्यक्त और इन्द्रियगोचर होता है एवं प्रलयमें फिरसे अव्यक्त प्रकृतिमें मिल कर अव्यक्त हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यह सारा स्थूल-सूक्ष्म संसार एक अव्यक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका व्यक्त रूप मात्र है।

---

* Vegetative torpor instinct and intelligence—these then are the elements that coincided in the vital impulsion common to plants and animals and which in the course of a development in which they were made manifest in the most unforeseen forms have been dissociated by the very fact of their growth The cardinal error which from *Aristotle* onwards has vitiated most of the philosophies of nature, is to see in vegetative, instinctive and rational life, three successive degrees of the development of one and the same tendency, whereas they are three divergent directions of an activity that has split up as it grew The difference between them is not a difference of intensity, nor, more generally, of degree but of kind Translated by A. Mitchell Ph D

पर अभी यह निश्चय करना शेष है कि जीव अथवा आत्मा, बुद्धि, मैं-पना (अहंकार) आदि किस वर्गमें रखे जायँगे। अर्थात् अभी इस बातपर विचार करना है कि आत्मा क्या है? चेतनता प्रकृतिसे भिन्न कोई पदार्थ है अथवा प्रकृतिका ही धर्म विशेष? अर्थात् प्रकृति जो सृष्टि-रचनामें प्रवृत्त होती है वह सचेतन है अथवा अचेतन? यदि प्रकृति जड़ है तो चेतनता क्या है? इत्यादि। प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ हेकलने तो अपने ग्रन्थमें मन, बुद्धि, अहंकार एवं आत्मा, इन सबको शरीरका ही धर्म या प्रकृतिका ही विकार माना है। वे इस अव्यक्त प्रकृतिको छोड़कर संसारका कर्त्ता या उत्पादक किसी दूसरे चेतनको नहीं मानते। उनका कहना है कि मूल प्रकृतिकी शक्ति धीरे धीरे बढ़ती गयी और अन्तमें उसीको चैतन्य या आत्माका स्वरूप प्राप्त हो गया। इसीलिए हेकलने अपने सिद्धान्तका नाम अद्वैत (मोनिज़म) दिया है, पर यह अद्वैत जड़-मूलक है, इस कारण हम यदि इसे लोकमान्यके शब्दोंमें 'जड़ाद्वैत' कहें तो कुछ अनुचित न होगा।

पर सांख्य इस जड़ाद्वैतको नहीं मानता। हेकलकी भाँति सांख्य भी प्रकृतिको जड़ मानता है और उसीके क्रमिक विकास या गुणपरिणामसे बुद्धि, अहंकार आदि गुण उत्पन्न होते हैं, पर सांख्यका वही सत्कार्यवाद-वाला सिद्धान्त इस रास्तेमें भी बाधक होता है कि चेतनता भी प्रकृतिके क्रमविकासका ही परिणाम है। जो प्रकृति मूलमें ही चेतन नहीं है, उससे चैतन्य कैसे उत्पन्न होगा? इतना ही नहीं, जिस प्रकार मनुष्य अपनेही कन्धेपर उलट कर नहीं बैठ सकता, उसी प्रकार जबतक प्रकृतिको जानने या देखनेवाला कोई प्रकृतिसे भिन्न न होगा, तबतक यह 'मैं जानता हूँ', 'मैं देखता हूँ' इत्यादि भाषाका व्यवहार नहीं कर सकता। इसीलिए सांख्य शास्त्रका कहना है कि ज्ञाता और ज्ञेय, प्रकृतिको देख-नेवाला चेतन और दिखाई पड़नेवाली जड़ प्रकृति, इन दोनोंको मूलसे ही पृथक् पृथक् मानना चाहिए। इस देखनेवालेको सांख्यकी परिभाषामें

'पुरुष' कहा है। इसे ही वेदान्ती आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। भेद केवल इतना है कि वेदान्त आत्माको एक मानता है पर सांख्य अनेक, असंख्य पुरुष मानता है। सांख्यका यह पुरुष निसर्गसे ही प्रकृतिसे भिन्न है। यह निर्विकार और निर्गुण है। साथ ही यह चेतन है और जानने या देखनेके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं करता। संसारमें जो घटनाएँ हुआ करती हैं, वे सब प्रकृतिके ही खेल हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि सांख्य केवल दो ही तत्त्व मानता है—(१) पुरुष, और (२) प्रकृति। इन-मेंसे पुरुष चेतन है, प्रकृति अचेतन या जड़। पुरुष उदासीन या अकर्त्ता है, तो प्रकृति सब काम किया करती है। पुरुष निर्गुण है, प्रकृति त्रिगुणात्मिका, पुरुष साक्षी या देखनेवाला है, तो प्रकृति अंधी। ये दोनों तत्त्व अनादि और स्वयंभू हैं। प्रकृति एक है, पुरुष असंख्य।

इस प्रकार इन दो मूल तत्त्वोंको मान लेनेके बाद सांख्यके लिए यह आसान होजाता है कि वह इन दोनोंके सहारे दृश्य जगत्की व्याख्या कर दे। सांख्यका कहना है कि जैसे बछड़ाके थनके नीचे मुँह लगाते ही गाय दूध देने लगती है अथवा चुम्बकके पास लोहेको रख देनेसे जैसे लोहेमें आकर्षण आजाता है, वैसे ही यद्यपि पुरुषके निर्गुण होनेके कारण कर्म करनेके साधन उसके पास नहीं हैं और प्रकृतिके अचेतन होनेके कारण वह यह नहीं जानती कि क्या करना चाहिये पर चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति रूपी अंधे लँगड़ेकी जोड़ी लग जानेपर अर्थात् प्रकृति और पुरुषका संयोग हो जानेपर सृष्टिका कार्य आरम्भ हो जाता है। और जिस प्रकार कोई नटी दर्शकोंके मनोरञ्जनार्थ रंगमंचपर भिन्न भिन्न रूप धारण करके नाना प्रकारके खेल दिखलाती है, उसी प्रकार पुरुषके स्वार्थके लिए प्रकृति-नटी सत्त्व-रज-तम-गुणोंकी न्यूनाधिकतासे नाना प्रकारके अनेक रूप धारण करती है और पुरुषके सामने लगातार नाचती रहती है। प्रकृतिके इस नाचको देखकर जबतक मोहसे या वृथाभिमानके कारण पुरुष यह समझता रहता है कि मैं ही कर्त्ता हूँ तबतक वह प्रकृतिके

बन्धनसे नहीं छूटता, पर जब वह यह जान लेता है कि मैं भिन्न हूँ और प्रकृति भिन्न है तबसे वह मुक्त ही मुक्त है। जाननेके साधन मन, बुद्धि भी प्राकृत ही हैं एव जानना क्रिया भी बुद्धिका ही रूप है। पुरुष तो अकर्त्ता एव निर्गुण है। प्रकृति दर्पण है जिसमें पुरुष अपना मुँह देखता है और निजानन्दमें मग्न हो जाता है। जबतक बुद्धिमें रजोगुण या तमोगुणकी प्रबलता रहती है, तबतक चचलता एव मोहके कारण पुरुषको अपना रूप नहीं दिखाई पड़ता, पर जब बुद्धि सात्विक (अर्थात् स्वच्छ और निर्मल) हो जाती है, तब पुरुषको अपना निर्गुणरूप दिखाई पड़ जाता है और वह आनन्दमें मग्न हो जाता है, अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

अब देखना है कि इस पुरुष एव प्रकृतिके सयोगसे प्रकृतिके गुणोंका किस क्रमसे विकास होता है। इस विषयमें सांख्य शास्त्रका मत है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिमें सर्वप्रथम जो विकार होता है वह है व्यवसायात्मिका बुद्धि। बुद्धिसे अहकार, और अहकारसे दो प्रकारकी सृष्टि होती है, एक ओर मन सहित दश इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों) की उत्पत्ति होती है और दूसरी ओर पच भूतोंकी मूल पचतन्मात्राएँ और इन्हीं पञ्चतन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी तन्मात्राओं) से आकाश, वायु, अग्नि, जल एव पृथ्वी ये पच महाभूत उत्पन्न हुए। इन अन्तिम पाँच स्थूल महाभूतोंको छोड़कर शेष सब सूक्ष्म सृष्टि है और अहकारसे मनसहित ग्यारह इन्द्रियोंकी जो सृष्टि हुई है उसे सात्विक एव पचतन्मात्राओंको तामसिक सृष्टि कहते हैं। 'क्यों सर्वप्रथम बुद्धिकी उत्पत्ति हुई, उससे पहले पहल अहकार ही क्यों हुआ?' आदि प्रश्नोंका उत्तर देना प्रकृत विषयसे बाहरकी बातें हैं। अस्तु।

अब यदि सांख्य शास्त्रका सिद्धान्त मान लिया जाय और उसके अनुसार सौंदर्यकी परिभाषा करनी पड़े तो ऊपर हमने जो यह परिभाषा दी है कि 'सूक्ष्म स्थूल जगत्‌मेंसे आत्माकी अभिव्यक्तिका नाम सौंदर्य है' यही एकमात्र परिभाषा हो सकती है, अन्तर केवल इतना होगा कि

'आत्मा' के स्थानमें 'पुरुष' शब्दका प्रयोग होगा। ऊपरके विवेचनमें हमने देखा है कि पुरुष निर्गुण है एवं त्रिगुणात्मिका प्रकृति उसका दर्पण। हमने यह भी देखा है कि बुद्धिरूपी दर्पणके सत्वगुणी होनेपर ही पुरुषको अपना रूप दिखाई पड़ता है अर्थात् पुरुषको अपना रूप दिखाई पड़नेके लिए यह आवश्यक है कि प्रकृतिरूपी दर्पण स्वच्छ हो। हमने यह भी देखा है कि सत्व, रज एवं तमोगुणमेंसे यद्यपि कभी कभी शेष दोको दबाकर कोई एक प्रबल हो जाता है पर शेष दोनोंका सर्वथा नाश नहीं हो जाता। इसलिए यद्यपि बुद्धि—हमारी बुद्धि—रजोगुण या तमोगुणके आधिक्यके कारण मलिन हो जाती है पर कभी कभी कुछ क्षणके लिए उसमें सत्वगुण भी प्रकट हो जाता है और उस समय पुरुषको अपना रूप दिखाई पड़ जाता है। यद्यपि यह आत्मरूप-दर्शन अल्पक्षण-स्थायी होता है, फिर भी तज्जन्य आनन्दमें एवं योग, विवेक, साधना आदिकी सहायतासे परिष्कृत बुद्धिरूपी दर्पणमें होनेवाले आत्मदर्शन-जन्य आनन्दमें कोई भेद नहीं है। हम कह सकते हैं कि नाना प्रकारके साधनों एवं ध्यान, धारणा, समाधि द्वारा जिस आत्मरूपका पुरुषको ज्ञान होता है, जिस अपने कैवल्य एवं आनन्द स्वरूपका उसे साक्षात्कार होता है, वही कैवल्य रूप, वही अपना निर्गुण स्वरूप कभी कभी प्रकृतिमें दिखाई पड़ जाता है। इसीको हम सौंदर्यानुभव कहते हैं। इसी आत्मरूपका दूसरा नाम सौंदर्य है।

पर कई कारणोंसे सांख्यके मतको आंशिक रूपमें स्वीकार करते हुए भी हम सम्पूर्ण रूपसे स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि इससे सौन्दर्य-बोधके समय होनेवाली तमाम बातोंकी व्याख्या समुचितरूपेण नहीं हो सकती। इसमें अनेक आपत्तियाँ उठ खड़ी होंगी जिनका समाधान सांख्यमतानुसार नहीं हो सकता। सबसे बड़ी आपत्ति तो पुरुषके नानात्वपर होगी। यदि हम पुरुषको भिन्न एवं प्रति देहमें अलग अलग मानें तो फिर अन्य बातोंके साथ साथ हम इस दृश्यकी भी समुचित

व्याख्या नहीं कर सकते कि सुन्दर पदार्थ एक साथ ही बहुतोंको कैसे सुख दे सकता है ? अथवा यों कहिये कि जैसे एक ही दर्पणमें कई मनुष्य बिना एक दूसरेको बाधा पहुँचाये अपना अपना मुँह नहीं देख सकते, इसी प्रकार भिन्न भिन्न पुरुष एक ही भौतिक पदार्थमें अलग अलग अपना वास्तविक रूप नहीं देख सकते। ऐसी ही और भी अनेक आपत्तियाँ आ खड़ी होंगी। अतः सौन्दर्यके तात्विक रूपको समझनेके लिए हमें ऐसे सिद्धान्तकी शरण लेनी होगी जो इन तमाम आपत्तियोंका समुचित उत्तर दे सके। मेरी समझसे ऐसा सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त है। हेगलके शिष्य विशरकी भाँति मैं भी यही कहना चाहता हूँ कि 'केवल अद्वैत सिद्धान्त द्वारा ही हम सौन्दर्यकी समुचित मीमांसा कर सकते हैं।'* अतः अब हम इस बातपर विचार करेंगे कि संसारकी उत्पत्तिके विषयमें एवं इसके मूल कारणके विषयमें वेदान्तका क्या मत है। यहाँ हम बतला देना चाहते हैं कि यद्यपि वेदान्तियोंमें भी आपसमें कुछ मतभेद है एवं उनमें भी अनेक सम्प्रदाय हैं पर हम इस पुस्तकमें उन सबका कोई ज़िक्र न करेंगे। यह हमारे विषयके लिए कुछ सहायक भी न होगा। हम तो यहाँपर शंकराचार्यके अद्वैत सिद्धान्तका ही प्रतिपादन करेंगे।

ऊपरके विवेचनमें हमने देखा है कि सांख्यने जड़ एवं चेतन जगत्की मीमांसा करके मूलभूत दो तत्त्वोंका निर्णय किया है—(१) प्रकृति, और (२) पुरुष। प्रकृति एक है, पुरुष अनेक। पर वेदान्त संसारके मूल दो तत्त्वोंको नहीं मानता। सर्वप्रथम तो सांख्यने पुरुषको जो अनेक माना है यह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि यदि पुरुष निर्गुण हैं तो फिर उन पुरुषोंमें भेद है यह कैसे सिद्ध होगा ? एवं परस्पर अलग

* Only a Pantheistic theory of the universe can do full justice to the Beautiful Vide Knight's Philosophy of the Beautiful.

अलग रहनेका गुण उनमें कैसे आ जायगा? दूसरी बात यह है कि प्रकृति और पुरुषका जो संयोग होता है वह सत्य है या असत्य? यदि सत्य है तो फिर कभी वियोग नहीं हो सकता। यदि असत्य है तो फिर सांख्यकी सारी प्रक्रिया बिगड़ जाती है। एक बात और विचारणीय है। प्रकृति और पुरुष यदि प्रारम्भमें अलग अलग थे तो इन दोनोंके बीचमें क्या था? सांख्यके अनुसार आकाशकी उत्पत्ति तो बादमें हुई है। फिर प्रकृति एवं पुरुष जब पृथक् पृथक् थे और जब मोक्षमें प्रकृति पुरुषसे अलग हो जाती है, तब यह अवकाश कहाँसे आता है? यही नहीं, पुरुष पुरुषमें जो पार्थक्य है उनके बीचमें क्या है? यदि सभी पुरुष विभु हैं, तो फिर भिन्नताका ज्ञान कैसे होगा?...इत्यादि ऐसी ही और भी कितनी ही शंकाएँ हैं जिनका कोई समुचित उत्तर सांख्य नहीं दे सकता। इसीलिए वेदान्त संसारका मूल एक ही स्वयंभू, स्वतन्त्र एवं अनिर्वचनीय ब्रह्मको मानता है; पर यह ध्यान रहे कि वह ब्रह्म केवलकी जड़शक्ति नहीं है। वह चेतन है। केवल जड़शक्तिको जगत्का कारण माननेपर भी ऐसी अनेक शंकाएँ उठती हैं जिनका समाधान नहीं होता। संसारमें हमें कहीं भी निराधार शक्ति दिखाई नहीं पड़ती। शक्ति कहनेके साथ ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि वह शक्ति किसकी है? शक्तिके लिए शक्त अवश्य चाहिए। यह नहीं है कि वेदान्त शक्ति न मानता हो। वेदान्त भी शक्ति मानता है और उसे जड़ भी मानता है पर औरोंकी तरह उसे निराधार, शक्त-रहित नहीं मानता। बिना प्रयोग करनेवालेके शक्तिका स्वतः प्रयुक्त होना कभी नहीं देखा गया।

इस प्रकार एक, अद्वितीय, स्वगत, सजातीय-विजातीय भेदरहित ब्रह्मसे ही यह संसार उत्पन्न हुआ है। पर यह नहीं समझना चाहिए कि सांख्यकी भाँति वेदान्त संसारको ब्रह्मका परिणाम मानता है। नहीं, वेदान्तका कहना है कि इस ब्रह्मकी एक शक्ति है जिसका नाम है

'माया'। उपनिषदोंमें भी ब्रह्मकी शक्तिका जिक्र आता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा है कि "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल क्रिया च" (इस ब्रह्मकी एक पराशक्तिके विषयमें भी सुना जाता है कि यह स्वाभाविकी है एवं ज्ञान, बल और क्रिया भी उसमें है)। ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १२९ वें सूक्तमें, जो नासदीय सूक्त भी कहलाता है, कहा है कि सदसद्से परे अनिर्वचनीय जो ब्रह्म है उसीकी इच्छा (काम) से बादको दृश्य सृष्टिका निर्माण या वेदान्तके शब्दोंमें अध्यारोप होता है। वह मन्त्र यह है—

"कामस्तग्रे समवर्त्तताधि, मनसो रेत प्रथमम् यदासीत्।
सतोबन्धु मसति निरविन्दन्, हृदि प्रतीष्या क्वयो मनीषा।"

(ऋ० १० अ० १२९-४)

इसका अर्थ यह है कि 'इसके मनका जो रेत अर्थात् बीज प्रथमत निकला वही आरम्भमें काम (अर्थात् सृष्टि निर्माण करनेकी प्रवृत्ति या शक्ति) हुआ। ज्ञाताओंने अन्त करणमें विचार करके बुद्धिसे निश्चित किया है कि (यही) असत्में अर्थात् मूल परब्रह्ममें सत्का यानी विनाशी दृश्य सृष्टिका (पहला) सम्बन्ध है।' (देखो लोकमान्यका गीतारहस्य, अध्यात्म प्रकरण)। इस प्रकार वेदान्त ब्रह्मकी माया-शक्ति की बात कहता है। यह माया शक्ति त्रिगुणात्मिका (सांख्यकी प्रकृतिकी

सकता है अथवा नहीं; इस शास्त्रार्थमें पड़नेपर हम अपने विषयसे बहुत दूर जा पड़ेंगे। फिर इस छोटी सी पुस्तकमें, वह भी सौंदर्य-तत्त्व विषयक पुस्तकमें, इतना स्थान भी नहीं है और न इससे कोई विशेष लाभ है; इसलिए अध्यास कैसे होता है, अध्यासका होना सम्भव है अथवा नहीं, इन प्रश्नोंका निपटारा हम यहाँ नहीं करना चाहते। जिन्हें इस विषयसे अधिक प्रेम हो उन्हें वेदान्तसूत्र शांकरभाष्यपर 'भामती', 'पंचदशी' एवं निश्चलदासकृत 'विचारसागर' जैसे ग्रन्थोंको देखना चाहिये।

अब प्रश्न होता है कि यह मायाशक्ति किसी क्रमसे अध्यास कल्पित करती है अथवा एक साथ? इस विषयमें वेदान्त सांख्यके एवं विकासवादके सिद्धान्तको ही प्रायः मान लेता है*। जिस क्रमसे सांख्य संसारकी उत्पत्ति मानता है उसी क्रमसे वेदान्त भी मानता है। वेदान्तका कहना है कि सर्वप्रथम मायामें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ता है। जो शुद्ध सत्वगुणप्रधान माया है उसमें जो ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ता है वह मायाकी स्वच्छताके कारण स्वच्छ होता है इसलिए तदधिष्ठान स्वरूप जो चेतन है वह अपने स्वरूपको कभी नहीं भूलता। वह सदा अपने वास्तविक रूपको देखता हुआ निजानन्दमें मग्न रहता है। इस मायाका अधिष्ठान ब्रह्म, माया (सत्वगुणप्रधान) एवं मायामें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब इन तीनोंके संघातका नाम ईश्वर है। यह सम्पूर्ण मायाकृत होनेके कारण सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि गुणोंसे युक्त है। इसे मायाशबलम् ब्रह्म या सगुण ब्रह्म आदि भी कहते हैं। पर मलिन सत्वगुणप्रधान मायामें जो ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ता है वह रजोगुण, तमोगुणके अनेक भेदोंके कारण भिन्न भिन्न होता है। जिस प्रकार एक ही आदमीके

---

* 'प्रायः' कहनेका तात्पर्य यह है कि वस्तुतः वेदान्ती कोई क्रमिक सृष्टि या विकास नहीं मानता। हां, मायावशात् जगद् और उसके विकासकी प्रतीति अवश्य मान लेता है।

सामने पचासों रंगके पचासों शीशे रख दिये जाँय तो उस एक ही आदमीके मुँहका प्रतिबिम्ब पचासों तरहका पड़ेगा, इसी तरह एक ही ब्रह्मका प्रतिबिम्ब उपाधि-भेदके कारण भिन्न भिन्न होता है। यह माया (मलिन सत्वगुणप्रधान), मायामें प्रतिबिम्ब एवं कूटस्थ ब्रह्म (ब्रह्मके जिस अंशमें यह माया रहती है उसे कूटस्थ कहते हैं) इन तीनोंके संघातका नाम जीव है। यही सांख्यके भिन्न भिन्न असंख्य पुरुष हैं जो यद्यपि मूलमें एक ही हैं पर उपाधि-भेदके कारण भिन्न भिन्न दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार समष्टि एवं व्यष्टि दो प्रकारसे सृष्टिकी कल्पना प्रारम्भ होती है। सर्वप्रथम बुद्धि, बुद्धिसे अहंकार, अहंकारसे मन एवं दश इन्द्रियाँ तथा पंचतन्मात्राएँ और पंचतन्मात्राओंके पंचीकरण द्वारा पंच स्थूल महाभूत उत्पन्न होते हैं। फिर प्रलय कालमें ठीक उल्टे क्रमसे इनका लय होता है अर्थात् पृथ्वीका जलमें, जलका अग्निमें, अग्निका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका एवं मनसहित दश इन्द्रियोंका अहंकारमें, अहंकारका बुद्धिमें और बुद्धिका मायाशक्तिमें लय होता है। देखिये शक्तिके सम्बन्धमें स्वामी शंकराचार्य यही कहते हैं "प्रलीयमानमपिचेदं जगत् शक्त्यावशेषमेव प्रलीयते शक्ति मूलमेवच प्रभवति इतरथा आकस्मिकत्वप्रसंगात्" (वेदान्तभाष्य... ..) ('संसार जिस समय विलीन होता है उस समय शक्तिरूपमें ही विलीन होता है, फिर शक्तिमेंसे ही जगत्‌की अभिव्यक्ति होती है। यदि ऐसा न मानें तो फिर संसारकी या सांसारिक वस्तुओंकी उत्पत्ति आकस्मिक माननी पड़ेगी'—ठीक यही मत हेकल जैसे पाश्चात्य विकासवादियोंका भी है)। इस प्रकार हम वेदान्तके अनुसार इसी निश्चयपर पहुँचते हैं कि संसारका मूल एक ही चेतन, सत्य, शिव, एवं सुन्दर स्वरूप, नित्यशुद्ध, बुद्ध, मुक्त परब्रह्म है जिसकी मायाशक्ति अपने ही अधिष्ठान ब्रह्ममें इस नामरूपात्मक जगत्‌की कल्पना करती है और इस प्रकार पिण्ड ब्रह्माडकी रचना (अध्यारोप द्वारा) करती है। हमने इस अध्यायके प्रारम्भमें कहा था कि 'जो पिण्डमें है वही ब्रह्मांडमें

भी है। उसकी सत्यता अब स्पष्ट हो गयी होगी। इस अध्यायके प्रारम्भमें पूर्णजीकी जो कविता लिखी है उसका महत्त्व भी अब हमारे पाठकोंकी समझमें आगया होगा।

वास्तवमें यदि विचार दृष्टिसे देखा जाय तो यह सारा संसार एक परब्रह्म, चेतन आत्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसी एक आत्मामें यह सारा नाम रूपात्मक जगत् कल्पित है। एक उदाहरण द्वारा हम इस विषयको स्पष्ट करेंगे। आप किसी भी वस्तुको ले लीजिये और उसपर विचार कीजिये कि वह क्या है? उदाहरणार्थ सोनेकी एक अँगूठी अपने हाथमें ले लीजिये। सोचिये कि यह अँगूठी क्या है? आप उसे अँगूठी क्यों कहते हैं? उसमेंसे सोना निकाल लेनेपर अँगूठी कहाँ रह जायगी? तब यही कहना होगा कि यह सोना है। पर केवल सोना कहनेसे तो अँगूठीका बोध नहीं होता। तब तो यही सिद्ध होता है कि अँगूठी न तो सोना ही है और न सोनेसे (या जिस किसी और धातुकी यह बनी हो उससे) भिन्न उसका कहीं अस्तित्व ही है। फिर अँगूठी क्या है? यही नहीं, आप ऐसा भी तो कर सकते हैं कि इस अँगूठीको गलाकर इसका कुण्डल बनवा लें। सोना तो वही है, पर यह कुण्डल कहाँसे आ गया? और भी देखिये। आप चाहें तो इस कुंडलको भी गलाकर हार बनवा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही सोनेको हम कभी अँगूठी कह देते हैं, कभी कुण्डल और कभी हार। पर क्या हम यों ही बिना कुछ देखे ही इन नामोंका उच्चारण करते हैं? क्या हम कभी ऐसा भी करते हैं कि कुण्डलको अँगूठी और अँगूठीको हार कह देते हों? नहीं। हमें इन तीनोंसे तीन भिन्न भिन्न वस्तुओंका बोध होता है। पर सोना तो तीनों अवस्थाओंमें वही है। फिर भेद किस बातका है? यदि आप थोड़ासा विचार करें तो मालूम होगा कि नाम और रूपके अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है। अँगूठीका 'नाम' और 'रूप' कुण्डलसे भिन्न है एवं कुण्डलका नाम और रूप हारसे

भिन्न है, पर तीनोंका मूलद्रव्य एक ही है। आजकल विज्ञानने भी प्रत्यक्ष करके दिखला दिया है कि जो कारबन हीरेमें है वही कोयलेमें। दोनोंके मूलपदार्थमें तनिक भी भेद नहीं है। भेद अगर कुछ है तो नाम और रूपका। इसी प्रकार यदि हम क्रम क्रमसे विचार करते जायँ तो मालूम होगा कि यह सारा पार्थिव जगत् (पृथ्वीपरकी तमाम वस्तुएँ) पृथ्वीके ही भिन्न भिन्न नाम और रूप हैं। ये नाम रूप तो बदलते रहते हैं, पर मूलद्रव्य ज्योंका त्यों बना रहता है। जैसे मिट्टीके घड़ेका नामरूप बदल कर हम उसे मिट्टीके हाथीका नाम रूप दे सकते हैं पर मिट्टी ज्योंकी त्यों रहेगी। अथवा मिट्टी ही क्यों? वह भी अन्तिम तत्त्व नहीं। पृथ्वीके सब पदार्थ तरल बनाये जा सकते हैं। जल भी हवाके रूपमें बदला जा सकता है। इसी न्यायसे यदि हम आगे बढ़ते जायँ तो अन्तमें हम इसी निष्कर्षपर पहुँचेंगे कि एक ब्रह्म ही सत्य है, मूल है—अथवा मूल किसका? वही है। उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। 'नेह नानाऽस्ति किंचन'—इसमें नानात्व तनिक भी नहीं। यह नानात्व तो केवल 'नामरूप' है जो उसीकी अनिर्वचनीय शक्तिद्वारा उसीमें कल्पित है। पर इस कल्पनाके होते हुए भी वह निर्गुण, निर्विकार, एकरस ज्योंका त्यों बना हुआ है। उसमें कुछ परिवर्तन नहीं होता। सूर्यकी किरणोंमें जलका भ्रम होनेसे ऐसा थोड़े होता है कि वहाँकी ज़मीन गीली हो जाय? रस्सीमें सर्पका भ्रम भले ही हो जाय पर क्या इससे रस्सी ज़हरीली एव गतिवाली हो जायगी? नहीं, वह तो ज्योंकी त्यों बनी रहेगी। इन्हीं सब बातोंपर विचार करके प्राचीन ऋषियोंने यह निश्चय किया है कि—

"अस्ति भाति प्रिय रूप नाम चेत्यश पचमम्।
आद्यत्रय ब्रह्मरूप जगद्रूप ततो द्वयम्॥"

इसका भावार्थ यह है कि 'ससारमें हमें पाँच बातें दिखायी पड़ती हैं—(१) अस्तित्व या सत्ता, (२) दिखाई पड़ना (चित्), (३) अच्छा

लगना (आनन्द या यदि आप चाहें तो इसे ही सौन्दर्य कह सकते हैं), (४) रूप, (५) नाम। इनमेंसे पहले तीन ब्रह्मके रूप हैं अर्थात् ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है और शेष दो जगद्रूप हैं अर्थात् संसार नाम-रूपमात्र है। विचार-दृष्टिसे देखनेसे नामरूपके पर्देमें सर्वत्र अपना ही रूप है, पर अज्ञान दशामें सब भिन्न भिन्न है। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर तुलसीदासने अपनी विनयपत्रिकामें कहा है कि 'बिन विचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी'—अर्थात् बिना विचारके यानी अज्ञान दशामें यह रमणीय–सुन्दर–संसार भी बड़ा भयंकर लगता है। कुछ लोग इसका अर्थ इस ढङ्गसे भी करते हैं कि अज्ञानके कारण यह संसार रमणीय लगता है, पर वास्तवमें यह बड़ा भयंकर है। मेरी समझसे "सीय राममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी।" की रट लगानेवाले भक्तशिरोमणि तुलसीदास 'ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर यह संसार भयंकर लगता है' ऐसा नहीं कह सकते। यह उन्हें शोभा नहीं देता। जिसको सर्वत्र सीयरामका रूप दिखाई पड़ता है वह संसारको उस दशामें भयंकर कैसे कहेगा? इसलिए मेरी समझसे तो ऊपरके पदका भाव वही होना चाहिए जो मैंने दिया है।

अबतक जो विचार हमने किया है उससे दो बातें स्पष्टतः सिद्ध हैं। एक तो यह कि हमारी प्रत्यगात्मा सत्, चित्, एवं आनन्द स्वरूप है; दूसरी यह कि यह दृश्यमान जगत् एवं सूक्ष्म जगत् दोनों ही मिथ्या हैं; आत्मा (ब्रह्म) की अनिर्वचनीय शक्ति माया द्वारा अध्यारोपित है। यह माया त्रिगुणात्मिका है; एवं इस मायामें आत्माका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह उपाधि-भेदके कारण ही भिन्न भिन्न दिखाई पड़ता है; वास्तवमें कोई भेद नहीं है। अब हम अपने प्रकृत विषयकी ओर आते हैं।

हमने इस अध्यायके आदिमें सौंदर्यकी यह परिभाषा दी थी "स्थूल या सूक्ष्म जगत्‌मेंसे आत्माकी अभिव्यक्ति ही सौंदर्य है।" यहाँपर हमें

देखना है कि अबतक जिस निष्कर्षपर हम पहुँचे हैं उससे इस परिभाषाका कहाँ तक समर्थन होता है।

पीछे हमने देखा है कि इस जगत्में सर्वत्र एवं सब कुछ ब्रह्म ही है। और यही ब्रह्म हमारी आत्मा है। यही पिण्डमें है, यही ब्रह्मांडमें है। पर अनादि अविद्याके कारण हमारी बुद्धि उसे देखनेमें समर्थ नहीं होती, क्योंकि बुद्धि सहित सब इंद्रियाँ बहिर्मुख देखनेके ही लिए निर्मित हैं। फिर भी कभी कभी ऐसा होता है कि अकस्मात् मायाका पर्दा क्षणमात्रके लिए हट जाता है जिससे हमें अपने स्वरूपकी एक झाँकी मिल जाती है, अथवा क्रमश ज्यों ज्यों मायाका पर्दा सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होता जाता है त्यों त्यों उसके भीतरसे आत्मप्रकाश परिस्फुट होने लगता है। इसी आत्मप्रकाशके दर्शनको हम सौंदर्यबोधके नामसे पुकारते हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि आनन्द आत्माका स्वरूप है। अत. जब कभी हमारी बुद्धि अन्तर्मुख होगी, तभी उसमें आनन्दका आभास पड़ेगा; तथा जब कभी मायाका पर्दा सूक्ष्म होगा तभी आनन्दरूपकी अभिव्यक्ति अधिक स्फुट होगी। इनमेंसे पहली अवस्था (अर्थात् बुद्धिका क्षण मात्रके लिए अन्तर्मुख होना) तो कभी कभी विषयासक्तिकी अवस्थामें भी होती है, पर हमें वहाँ जो आनन्द होता है वह सकाम होता है। यद्यपि वह भी आत्मरूप आनन्दका ही प्रतिबिम्ब है फिर भी बुद्धिके शीघ्र ही विषयाभिमुख हो जानेके कारण वह विषयानन्द कहलाता है; क्योंकि अभीप्सित वस्तुके लाभसे ही हमारी वृत्ति उस समय क्षणमात्रके लिए अन्तर्मुख होती है। पर जहाँ कहीं आत्मरूपकी अभिव्यक्तिके कारण हमारे मनमें निष्काम आनन्दका अनुभव होता है, वहाँ हमें सौंदर्य दिखाई पड़ता है। वास्तवमें यदि विचार करके देखा जाय तो सर्वत्र ही आत्माभिव्यक्ति है, नाम-रूपके हटा देनेपर वही शेष रहता है, पर इन्द्रियाँ चञ्चल अर्थात् मलिन रहनेके कारण हमें वह सर्वत्र एवं सब समय दिखाई नहीं पड़ता। हमारे प्राचीन ऋषियोंका भी यही मत है कि "निज दोषा-

घृतमनसामति सुन्दरमपि विभाति विपरीतम्" अर्थात् अपने दोष (इच्छा, तृष्णा आदि) से मलिन मनवालोंको अतिसुन्दर भी कुत्सित दिखाई पड़ता है। पर कभी अन्त करणमें सत्वोत्कर्षके कारण अथवा वस्तुकी बनावट एव परिस्थितिके कारण हमारी बुद्धि इस क्षुद्र व्यक्तित्वको छोड़कर ऊपर उठ जाती है और उसी समय हमारा अपना वास्तविक रूप दिखाई पड़ने लगता है। इसी आत्मरूपको हम सौंदर्य कहते हैं। हम आगे चल कर इस विषयपर अधिक विस्तारसे विचार करेंगे। यहाँ तो हमें यही दिखलाना है कि हमने सौंदर्यकी जो परिभाषा दी है वह कहाँ तक ठीक है एव हमने आत्माकी अभिव्यक्तिको ही सौंदर्य क्यों कहा है।

योगियोंका अनुभव भी इसका ही प्रतिपादन करता है। सम्प्रज्ञात समाधिमें जब केवल 'अस्मि' इतना मात्र अवशिष्ट रहनेवाला होता है, उसके ठीक पहिले योगीकी अवस्थाको सानन्द समाधि कहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वितर्क विचार द्वारा नामरूपमय जगत्का शमन करके आत्मानुभूतिकी अवस्थामें योगी आत्माराम, आनन्दानुभवी होता है। इसी प्रकारका आनन्द निष्काम कर्ममें रत व्यक्तिको प्राप्त होता है जो मम तत्वके ऊपर उठकर जगत्को आत्ममय देखता है। एक पाश्चात्य दार्शनिकने ठीक कहा है कि ईसाने यह उपदेश तो दिया कि 'सब प्राणियोंसे अपने जैसा बर्ताव करो' पर इसकी व्याख्या वेदान्त ही करता है। वह बतलाता है कि तुम ही 'सब प्राणी' हो। जो मनुष्य निष्काम कर्मके द्वारा अपने अन्त करणको शुद्ध कर लेता है उसको सर्वत्र आत्मस्वरूपका अनुभव होता है, इसीलिए उसे सुख, राग आदिसे परे एक अपूर्व आनन्दका अनुभव होता है।

इस अध्यायमें हमने यह दिखलानेका यत्न किया है कि जिस आत्माकी अभिव्यक्तिको हम सौंदर्य कहते हैं उसका रूप क्या है। अब हम अगले अध्यायमें यह दिखलानेका यत्न करेंगे कि कैसे हमारी

परिभाषाके अन्दर सबका समन्वय हो जाता है एव क्यों हमने सौंदर्यको आत्मरूप कहा है।

पाँचवाँ अध्याय

सिद्धान्तोंका समन्वय

पिछले अध्यायमें हमने सौंदर्य विषयक अपना सिद्धान्त दिया है और यह भी कहा है कि ससारके लगभग सभी सौंदर्यकी मीमासा करनेवालोंने सौंदर्यका यही स्वरूप देखा है पर सैद्धान्तिक हठके कारण वे उसे ठीक तौरसे व्यक्त नहीं कर सके हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि सौंदर्य विषयक हमारा सिद्धान्त ठीक है तो इसमें सब सिद्धान्तोंका समावेश होना चाहिये एव सब सम्भव तथा उचित शकाओंका उत्तर समुचितरूपेण दिया जाना चाहिये। बिना ऐसा किये हमें यह कहनेका अधिकार नहीं है कि सौंदर्य विषयक हमारी परिभाषा ही समुचित परिभाषा है। अत इस अध्यायमें हम उन तमाम शकाओंका यथोचित उत्तर देने और सब सिद्धान्तोंका समन्वय करनेकी चेष्टा करेंगे।

काण्टने सुन्दर वस्तुओंके विश्लेषण द्वारा चार बातोंका प्रतिपादन किया है—(१) प्रत्येक सुन्दर वस्तु हमें नि स्वार्थ या निष्काम आनन्द (डिसइण्टरेस्टेड डिलाइट) देती है, (२) सुन्दर वस्तुका आनन्द किसी व्यक्ति विशेषके लिए सीमित नहीं है, यह सबको आनन्द देती है, (३) सौंदर्यजन्य आनन्दके भोगते समय हमें उस वस्तुके सम्बन्धका कोई ध्यान नहीं रहता, सुन्दरताके लिए ही सुन्दर वस्तुओंका उपयोग है (४) सौंदर्यका आनन्द अपरिहार्य है अर्थात् यह हो नहीं सकता कि हमें सुन्दरता दिखाइ पड़े और निष्काम आनन्द न हो। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि काण्टका कहना ठीक है—जिसके ठीक

होनेमें अब शायद ही कोई विद्वान् सदेह करता हो—तो इसके अनुसार हमारे सिद्धान्तका कैसे समन्वय हो सकता है ? क्या इस कसौटीपर कसनेसे हमारा सिद्धान्त खरा उतरेगा ?

यदि विचार करके देखा जाय तो जान पड़ेगा कि हमारा सिद्धान्त अवश्य ऐसा है जो इस कसोटीपर खरा उतर सकता है। यह बात आगे-के विवेचनसे स्पष्ट हो जायगी।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, काण्टके मतानुसार सौंदर्यजन्य आनन्द निष्काम होता है। अब विचारणीय बात यह है कि इस आनन्द-के निष्काम होनेका एवं और आनन्दोंसे इसके भिन्न होनेका क्या कारण हो सकता है ? संसारमें तो हमें ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखाई पड़ती जिससे हमारा राग-द्वेष न हो। हाँ, कुछ वस्तुएँ ऐसी अवश्य हैं जिनकी ओरसे हमें उदासीनता रहती है। पर ऐसी वस्तुओंके देखनेसे हमें कभी आनन्द भी नहीं होता, निःस्वार्थ आनन्दकी कौन कहे। फिर ऐसी कौनसी वस्तु हो सकती है जिसके देखनेसे हमें आनन्द भी हो और कामना भी न हो ? थोडा गम्भीर विचार करके देखनेसे मालूम होगा कि ऐसी एक ही चीज़ हो सकती है और वह है अपना आप, अपनी आत्मा, अपना स्वरूप। हमें अपने आपसे न कभी राग होता है—क्योंकि हम अपने आपसे कभी पृथक् नहीं होते—और न कभी द्वेष होता है क्योंकि हम आप अपने ही लिए दुःखदायक या बाधक नहीं हो सकते। रागद्वेष तो हमें अपनेसे भिन्न वस्तुओंसे ही हो सकता है। अपने आपसे राग द्वेष कैसा ? और न हम अपनी आत्माकी ओरसे कभी उदासीन ही हो सकते हैं। उदासीन भी तो अपनेसे भिन्नकी ही ओरसे हम हो सकते हैं। फिर तो यही कहना पड़ेगा कि अपना स्वरूप हो, अथवा अपना ही सौंदर्य ऐसा हो सकता है जिसके देखनेसे हमें आनन्द तो हो पर वह आनन्द सकाम न हो। यह हमारे अनुभवकी बात है कि दर्पणमें अपना मुँह देखते समय हमारे मनमें अपने मुँहके प्रतिबिम्बके विषयमें

उपादेयताका भाव नहीं रहता। हमारी एक मात्र यही इच्छा होती है कि हम उसे देखें। यही बात सौंदर्यानुभवके समय भी होती है। काण्टका यही तो कहना है कि "जब कभी हम किसी वस्तुको सुन्दर कहते हैं उस समय हमें आनन्दकी चेतना तो रहती है पर वह आनन्द निष्काम होता है। हम किसी वस्तुको इसलिए सुन्दर नहीं घोषित करते कि वह हमारे लिए उपादेय है। हमारी इच्छा तो एकमात्र यही होती है कि हम उसके सम्मुख रहें अर्थात् उसे देखते रहें" (नाइटके सौंदर्य तत्त्व नामक अंगरेजी ग्रन्थका पृ० ५७ देखो)। पर हम जानते हैं कि यह अवस्था उसी समय हो सकती है जब हम किसी माध्यम द्वारा अपना स्वरूप आप देख रहे हों। अतः यही कहना होगा कि जब हमें कहीं सौंदर्य दिखाई पड़ता है, तब किसी बाह्य वस्तुके माध्यमसे हमें अपना ही सौंदर्य दिखाई पड़ता है। इसीलिए हमें उस समय जो आनन्द होता वह निष्काम होता है।

इसी प्रकार किसी दूसरे सिद्धान्तके सहारे इस बातकी भी समुचित व्याख्या नहीं हो सकती कि एक ही वस्तु एक ही समयमें या भिन्न भिन्न समयोंमें भिन्न भिन्न दृष्टिकोणसे देखनेवाले विभिन्न लोगोंको एक ही प्रकारका सुख क्यों देती है? वस्तु तो एक ही होती है, पर उसे देखने वाले अनेक होते हैं। फिर भी यह एक विचित्र बात है कि सबको एक ही प्रकारका सौंदर्य दिखाई पड़ता है एवं सबको निष्काम आनन्दका अनुभव होता है। यह बात द्वैतमतवादियोंके अनुसार कैसे सिद्ध हो सकती है? यदि देखनेवाले भिन्न भिन्न हैं तो फिर यह कैसे सम्भव है कि एक ही माध्यममें कई आदमियों या द्रष्टाओंको एक साथ ही एक ही प्रकारका आनन्द हो? पर हमारे मतमें यह दोष नहीं आ सकता। हमारे मतसे एक ही परमब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। उपाधि-भेदसे वह भिन्न भिन्न दिखाई पड़ता है; बाह्य वस्तुओंमें भी नाम रूपका आधार वही है एवं बुद्धि-वृत्ति में भी वही है। अतएव जब कभी हमारी बुद्धि नामरूपके आधारक

देखेगी अथवा कोई बाह्य वस्तु जब कभी नाम-रूपसे परे उस सच्चिदा-नन्दको व्यक्त करेगी, तभी हमें अपना वास्तविक स्वरूप दिखाई पड़ जायगा एवं हमें निष्काम आनन्दका अनुभव होगा। चूँकि सब बुद्धि-वृत्तियोंमें एक ही आत्मा व्याप्त है, इसलिए 'सबको एक ही प्रकारका आनन्द एक ही समय होना सम्भव है क्योंकि सौंदर्यानुभवके समय हम देशकालसे परे अपने स्वरूपमें स्थित होते हैं।

यही बात शेष दोके विषयमें भी है। हमें दर्पणमें अपना मुँह देखते समय मुँहके अवयवोंके परस्पर सम्बन्धका कोई ध्यान नहीं रहता। पर मुँहसे हमारा जो सम्बन्ध है अर्थात् यह हमारे मुँहका ही प्रतिबिम्ब है, इसी एक बातका ध्यान रहता है। ठीक यही दशा सौंदर्यबोधके समय भी होती है। देखिये काण्ट इस विषयमें क्या कहते हैं।

"जब हम किसी वस्तुको सुन्दर कहते हैं, उस समय हम केवल उस सम्बन्धको व्यक्त करते हैं जो हमारे (ज्ञाता) और उस वस्तुके बीच होता है। उस वस्तुके साथ और वस्तुओंके किसी भी सम्बन्ध-का हमें ध्यान नहीं रहता।"* यदि आप विचार करके देखेंगे तो मालूम होगा कि यह बात अपना रूप आप देखनेके समय ही घटित हो सकती है और आत्माको एकमेवाद्वितीयं, स्वगत, स्वजातीय-विजातीय-भेद-रहित माननेसे ही हम इसकी समुचित व्याख्या कर सकते हैं। यदि हम आत्मामें देशकाल एवं कारणका सम्बन्ध मानेंगे तो फिर हम इस बात-का कोई ठीक उत्तर न दे सकेंगे कि सौंदर्यबोधके समय हमें किसी और सम्बन्धका ज्ञान क्यों नहीं होता। अतएव यही कहना होगा कि हमें

---

* Further, when we say a thing is beautiful, we express the relation in which it (the object) stands to us (the subject), but we do not pronounce as to any other relation, in which the object before us stands to other objects (Vide-Knight's Philosophy of the Beautiful P 57)

जहाँ कहीं सौंदर्य दृष्टिगोचर होता है, वहाँ अपना ही स्वरूप दिखाई पड़ता है, इसीलिए हमें अपने उस प्रतिबिम्बका एवं अपना जो सम्बन्ध है उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई पड़ता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काण्टको सौंदर्यके रहस्यके उद्घाटन की कुञ्जी तो हाथ लग गयी थी पर जब वे अपने दर्शनशास्त्रकी सहायतासे उसका प्रयोग करने लगे, तब वे उससे वास्तविक रहस्य द्वारको न खोल सके क्योंकि वे वहाँ पहुँचे ही नहीं। उन्होंने अपने ग्रन्थमें इस बातकी ओर सकेत तो अवश्य किया है कि सुन्दर वस्तुओंके विश्लेषण द्वारा हम जिस परिणामपर पहुँचे हैं उनका समन्वय हम विना इस बातके माने समुचितरूपेण नहीं कर सकते कि प्रकृति कोई आनन्द उत्पन्न करनेवाली मशीन नहीं है, प्रत्युत वह एक प्रकारका दर्पण है जो हमारे अपने स्वरूपको ही प्रतिफलित करती है (देखो 'नाइटका सौंदर्यतत्त्व नामक ग्रन्थ, पृ० ५८ ५९), पर जब वे प्रतिफलित होनेवालेकी गवेषणामें पड़े हैं तब एक सार्वदेशिक बुद्धि या प्रज्ञा (यूनीवर्सल रीज़न) से आगे नहीं बढ़ सके हैं। पर जैसा कि हमने चौथे अध्यायमें दिखलाया है, काण्टकी यह सार्वदेशिक प्रज्ञा माया द्वारा ब्रह्ममें अध्यारोपित महत्तत्त्व या बुद्धि है जो अस्वसवेद्य या जड़ है। इस प्रज्ञाका आधार माने विना हम सौन्दर्यकी समुचित मीमांसा नहीं कर सकते।

इससे यही सिद्ध होता है कि सौंदर्यकी जो परिभाषा एवं उसका तात्विक स्वरूप हमने चौथे अध्यायमें दिया है, वही ठीक है। दूसरे किसी भी ढंगसे काण्टकी सौंदर्य विषयक अवगतिका समन्वय नहीं हो सकता।

शोपेनहारने एवं शोपेनहारके मतका अनुसरण करके प्रोफेसर हाय समने अवश्य ही एक अद्वैत तत्त्वको मानकर इसकी व्याख्या करनेकी चेष्टा की है पर चूँकि वे इच्छा (विल) को ही अन्तिम तत्त्व मानते हैं,

इसीलिए वे सौंदर्यकी व्याख्या करनेमें सफल नहीं हो सके हैं। बिना इच्छावालेके इच्छाकी कल्पना या अस्तित्व कैसे सिद्ध हो सकता है? इसी प्रकार यदि यह सारा संसार—ज्ञाता और ज्ञेय—इच्छाका ही स्थूल परिणाम (आबजेक्टिफिकेशन) है तो फिर उसमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद कैसे हुआ? क्या कोई अपने ही कंधेपर उछटकर बैठ सकता है? इच्छा अपने आपको ही कैसे देखती है? फिर, जिन पूर्व निश्चित प्रतिज्ञतयों (आइडिआज़) के रूपमें इच्छा परिणत होती है उन्हें किसने निश्चित किया था?

एक और कठिनाई शोपेनहारके मतमें यह उपस्थित होती है कि यदि इच्छाका ही यह सारा जगत् परिणाम है तो फिर सौंदर्यबोधके समय हमारा इच्छारहित होना या निष्काम आनन्दका अनुभव करना कैसे सिद्ध हो सक्ता है? पर अनुभव तो यही कहता है और शोपेनहार एवं डायसन दोनों ही इस बातको स्वीकार करते हैं कि सौंदर्यानुभवके समय हमें कोई इच्छा या तृष्णा नहीं रहती। हम उस समय इच्छासे ऊपर उठे होते हैं (देखो डायसनका एलिमेण्टस आफ मेटाफिजिक्स)। फिर यदि इच्छासे परे कुछ है ही नहीं तो बुद्धिके लिए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि यह इच्छाका अतिक्रमण करे? अतः केवल एक इच्छाको माननेसे काम नहीं चल सकता।

परन्तु हमारे सिद्धान्तके भीतर शोपेनहार एवं डायसनका भी समावेश हो जाता है तथा केवल इच्छाको जगत्का कारण मानकर सौंदर्यकी व्याख्या करनेमें जो अनेक दोष आते हैं उनका भी परिहार हो जाता है। हम भी इच्छाको ही जगत्का कारण मानते हैं, पर यह इच्छा तुलसीदासजीके शब्दोंमें "प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके" है। एक अद्वितीय ब्रह्मकी इच्छा-शक्तिका ही नाम माया है। इसी माया द्वारा यह सारा जगत् ब्रह्ममें ही कल्पित है। जिस प्रकार अँगूठी सोनेसे भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है, केवल नाम-रूपमात्र है; उसी

प्रकार यह जगत् न ब्रह्म है और न ब्रह्मसे भिन्न है, केवल नाम रूप है। नाम रूप हटा देनेपर जो शेष रहता है वही वह है। इसीलिए उसे 'नेति नेति' कहकर वेद पुकारते हैं; वह अतद्व्या वृत्ति रूप है अर्थात् तमाम नाम-रूपको हटाते हटाते जो शेष रह जाता है वही ब्रह्म है।

यहाँपर कोई यह शंका उठा सकता है कि जो दोष हमने दूसरों के मतमें दिखलाया है वही दोष हमारे मतमें भी है। यदि सर्वत्र एक ही ब्रह्म है तो फिर यह ज्ञाता और ज्ञेयका भेद कैसे हुआ? ब्रह्म अपने आपको ही कैसे जानता है? और यदि ज्ञेयको पृथक् मान लिया जाय अर्थात् यह मान लिया जाय कि बुद्धि एवं बाह्य वस्तुएँ हमें अपना रूप देखनेमें माध्यमका काम करती हैं, तब तो द्वैत हो जायगा। एक तो आत्मा और दूसरा माध्यम। परन्तु विचार करके देखनेसे ये दोनों ही दोष हमारे मतमें नहीं लगते। हम मायाको ब्रह्मसे न तो भिन्न मानते हैं और न अभिन्न। हम तो उसे ब्रह्मकी अनिर्वचनीय (न कहने योग्य) शक्ति मानते हैं। शक्तिको न तो आप शक्तसे भिन्न कह सकते हैं और न अभिन्न। आगमें जो दहन शक्ति है उसे यदि आप अग्निसे भिन्न मानेंगे तो फिर अग्निसे पृथक् उसका अस्तित्व दिखलाना होगा। पर अग्निको छोड़कर हमें अन्यत्र कहीं भी दहन-शक्ति नहीं दिखाई देती। तब क्या वह अग्नि ही है? नहीं। हम उसे अग्नि भी नहीं कह सकते। क्योंकि हम कभी कभी देखते हैं कि कुछ ऐसी ओषधियाँ या कुछ ऐसी धातुएँ हैं जिनको हाथमें या पैरमें लगाकर लोग बेधड़क अग्निको हाथमें उठा लेते हैं या उसपर चलते हैं पर उनका शरीर नहीं जलता। इस प्रकार हम शक्तिका बाध होना भी देखते हैं, इसलिए हम दहन शक्तिको अग्निका स्वरूप भी नहीं कह सकते। फिर यह दहन शक्ति क्या है? अन्तमें हमें यही स्वीकार करना पड़ेगा कि हम नहीं कह सकते कि क्या है। अर्थात् शक्ति अनिर्वचनीय है, और शक्तिके मानते हुए भी वस्तुमें द्वैत नहीं हो जाता। इसी प्रकार ब्रह्ममें एक

अनिर्वचनीय माया शक्तिको माननेसे उसमें द्वैत नहीं हो जाता और माया द्वारा अध्यारोपित होनेके कारण ज्ञाता एवं ज्ञेयपन भी बन जाता है।

इस प्रकार शोपेनहार एवं ब्रायसनके सौंदर्यविषयक सिद्धान्तका भी समावेश इस सिद्धान्तमें हो जाता है, बल्कि यों कहना चाहिये कि हमारे सिद्धान्तको मान लेनेसे ही शोपेनहारका मत निर्दोष हो जाता है एवं सब बातोंकी ठीक ठीक उपपत्ति लग जाती है।

हेगलके दार्शनिक सिद्धान्तके सहारे भी सौंदर्यकी ठीक ठीक व्याख्या नहीं हो सकती। यद्यपि हेगल द्वन्द्वों (रिलेटिव्ज़) की समन्वय-भूमि एक अद्वय या प्रज्ञा (एब्सोल्यूट या थाट) की बात कहते हैं पर जब वे इस प्रज्ञा या अद्वयकी व्याख्या करने लगे हैं तब उन्होंने सफलता नहीं पायी है। उनका अद्वय परिवर्त्तनशील है। सर्वप्रथम तो यह अद्वय शुद्ध प्रज्ञाके रूपमें रहता है, फिर प्रकृतिके रूपमें परिणत होता है और अन्तमें स्वसंवेद्यप्रज्ञा या आत्मा (सेल्फकान्शिअस थॉट ऑर स्पिरिट) के रूपमें पूर्णता प्राप्त करता है (देखो श्वेग्लरका दर्शनका इतिहास)। पर यह नहीं समझमें आता कि जो अद्वय आरम्भमें पूर्ण एवं शुद्ध है वह बीचमें अपूर्ण और अशुद्ध कैसे हो गया एवं अन्तमें पूर्णता कैसे प्राप्त करता है? अभी तक किसी मनुष्यमें उसने पूर्णता प्राप्त की है अथवा नहीं? दूसरे, जिस प्रकृतिके द्वारा वह आत्म-साक्षात्कार (सेल्फ रिएलिज़ेशन) प्राप्त करता है वह उससे भिन्न है अथवा वही है? यदि भिन्न है तो यह बतलाना पड़ेगा कि वह क्या है? एवं बाह्य वस्तुओंके माध्यम द्वारा जो आत्म प्रकाशरूपी सौंदर्य हमें दिखाई पड़ता है वह अद्वयकी किस अवस्थाका रूप है? यदि अद्वय परिवर्तनशील (एवर चेंजिंग आर बिकमिंग) है, तब उसका रूप कैसे स्थिर एवं एक ही प्रकारका रह सकता है? जो आत्मा प्रकृतिमें अपना सौंदर्य देखती है यह आत्मा यदि परिवर्तित हुई है तो फिर अपने पूर्वके

रूपको देखकर निष्काम आनन्दका अनुभव करती है अथवा अपने वर्तमान रूपको ? सबसे भारी कठिनाई तो इस बातकी है कि हमें जो असौंदर्य दिखाई पड़ता है उसका क्या कारण है ? इसी प्रकारकी और भी शकाएँ हेगलके सिद्धान्तको माननेसे उठती हैं जिनका कोई सन्तोष जनक समाधान नहीं मिलता। निरन्तर परिवर्तन होनेवाले अद्वयके द्वारा सौंदर्यकी मीमासा कैसे हो सकती है ?

पर उपर्युक्त सब दोष हमारे अद्वैतमें नहीं लगते। हमारा एकमेवा द्वितीय ब्रह्म नित्य एकरस, अपरिवर्तनशील एव निर्विकार है। ब्रह्मकी दृष्टिसे तो यही कहना होगा कि—

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक ।
न मुमुक्षु र्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥"

(गौड़पादाचार्यकी माण्डूक्यकारिका)

'अर्थात् न प्रलय होता है, न उत्पत्ति होती है, न कोई बद्ध जीव है और न बन्धनसे छुटकारा पानेके उद्योगमें लगा हुआ कोई साधक है। न कोई मुमुक्षु (मुक्तिकी इच्छा रखनेवाला) है और न कोई मुक्त है।' ब्रह्ममें बन्धन और मुक्ति कैसी ? वह तो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप है। फिर यह परिवर्तन, यह नाश और उत्पत्ति क्या है ? इसका उत्तर हम पहले ही दे आये हैं कि परब्रह्मकी ही अनादि शक्ति माया ब्रह्ममें इन सब नाम-रूपोंकी कल्पना करती है। नाम रूप परिवर्तनशील है अतएव मिथ्या है। सत्कार्यवादी जो यह शका करते हैं कि यदि ये नाम रूप पहले नहीं थे तो इनकी कल्पना कैसे हुई, इसका उत्तर वेदान्त यही देता है कि यह सृष्टि प्रवाहरूपसे अनादि है। सत्कार्यवादके अनुसार भी तो इस प्रश्नका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता कि पहले बीज पैदा हुआ कि पेड़। सृष्टिके विषयमें क्यों ?, कहाँ ? और कब ? नहीं पूछा जा सकता। यदि कोई पूछता है कि ससार कब उत्पन्न हुआ, तो उसका यही मतलब होता है कि ससारकी उत्पत्तिका समय क्या है ? पर समय

भी तो ससारका ही एक अग है। अत इस प्रश्नको दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि समय या काल किस समय या कालमें उत्पन्न हुआ ? पर क्या यह प्रश्न ठीक होगा ? यही दशा 'कहाँ' और 'क्यों' की भी है। अतएव यही मानना पडेगा कि ससार अनादि है, पर प्रवाह रूपसे ही।

इस प्रकार हमारे मतसे अपरिवर्तन एव परिवर्तन दोनोंकी ठीक ठीक उपपत्ति लग जाती है और सौंदर्यबोधकी ठीक ठीक व्याख्या हो जाती है। शेलिंग, विशर आदिका मत बहुत कुछ हेगलसे मिलता जुलता है, इसलिए उसका खण्डन पृथक् रूपसे करनेकी आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार विक्टर कूज्या, लिवेक, लार्ड शेफ्टसवरी आदि ईश्वरको ससारका निमित्त कारण माननेवाले विद्वानोंके सिद्धान्तों द्वारा भी सौंदर्यकी ठीक ठीक उपपत्ति नहीं लगती। वे लोग समस्त सौंदर्यका कारण भगवान्को मानते हैं, पर इस प्रकार माननेसे इस बातका कोई कारण नहीं बताया जा सकता कि असौंदर्यका कारण क्या है एव सौंदर्यानुभवके समय हमें निष्काम आनन्द क्यों होता है। आखिर भगवान्ने तो और भी वस्तुएँ बनायी हैं। फिर इसका क्या कारण है कि सुन्दर वस्तुओंको देखकर हमारे मनमें कामना नहीं रहती ? और आखिर सौन्दर्य है क्या चीज़ ? यदि यह भगवान्का रूप है तो हमें उसके देखनेसे निष्काम आनन्द क्यों होता है ? और फिर उनके मतसे तो भगवान् सर्वव्यापक हैं, फिर इसका क्या कारण है कि कहींपर तो हमें वह दिखाई पड़ते हैं और कहीं नहीं ? सौन्दर्यजन्य आनन्द तो अपरिहार्य आनन्द है, अत यदि भगवान् सौन्दर्यरूप हैं एव सर्वव्यापक हैं तो हमें सर्वत्र ही सौन्दर्य दिखाई पड़ना चाहिए और हम चाहें या न चाहें हमें सदा निष्काम आनन्द होना चाहिए। पर ऐसा तो नहीं होता। अतएव यही सिद्ध होता है कि सौन्दर्यको अपनेसे भिन्न किसी औरका रूप माननेसे उसकी उपपत्ति नहीं लगती।

परन्तु हमारे मतमें इन लोगोंका भी समन्वय हो जाता है।

जिसको वे भगवान् कहते हैं वह हमसे भिन्न नहीं है। एक ही चेतन ब्रह्मका प्रतिबिम्ब समष्टिरूपमें ईश्वर और व्यष्टिरूपमें जीव कहलाता है। जहाँतक सच्चिदानन्दका सम्बन्ध है वहाँतक हममें और ईश्वरमें कोई भेद नहीं। भेद तो केवल उपाधिका है। इस बातको हमने चौथे अध्यायमें विस्तारसे दिखाया है, इसलिए उसके यहाँ पुन दोहरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिसे वे लोग भगवान्का सौन्दर्य कहते हैं वह आत्मरूप ही है, हमारा अपना ही सौन्दर्य है।

रह गये वे लोग जो वैचित्र्यमें एकता, समानुपात, सममातृत्व, शुद्धता, आनन्त्य आदि द्वारा ही सौन्दर्यकी व्याख्या करते हैं। इस बातसे किसीको इनकार नहीं है कि जहाँ वैचित्र्यमें एकता, सममातृत्व आदि दिखाई पड़ता है वहाँ सौन्दर्यानुभव होता है। पर इन्हीं बातोंको सौन्दर्यका स्वरूप नहीं कह सकते। ये तो केवल उद्बोधक हैं। यदि इन्हें सौन्दर्यबोधका उद्बोधक न माना जाय तो यह प्रश्न रह ही जाता है कि वैचित्र्यमें एकता आदिमें जो सौन्दर्य हमें दिखाई पड़ता है वह सौन्दर्य वस्तुत क्या है ? केवल इतना कह देनेसे तो किसीका समाधान नहीं हो सकता कि जहाँ ये बातें दिखाई पड़ती हैं वहीं सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। ऐसा कहनेवालोंसे यदि कोई यह प्रश्न करे तो अनुचित न होगा कि क्यों हमें वैचित्र्यमें एकतामें सौन्दर्य दिखाई पड़ता है ?

पर हमारे सिद्धान्तमें इन लोगोंका भी समावेश हो जाता है। जहाँ वैचित्र्यमें एकता है वहाँ हमें अपना ही स्वरूप दिखाई पड़ता है क्योंकि परब्रह्ममें इस समस्त नाना अर्थात् विचित्र जगत्की एकता है। जिस वस्तुमें विचित्रतामें एकता होती है वह नाम रूपके बदले अपने आधारकीही ओर संकेत करती है जिसमें यह सारा नानात्व कल्पित है, पर इस नानात्वके रहते हुए भी जिसकी एकतामें कोई बाधा नहीं आती अर्थात् कोई विकार नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ सममातृता दिखाई पड़ती है वहाँ भी हमें अपने उसी स्वरूपका दर्शन होता है जो सूत्र

रूपसे इस सब नाम रूपात्मक जगत्का आधार है जिसमें 'सूत्रे मणि गणा इव' यह सारा जगत् पिरोया हुआ है। इसी प्रकार शुद्धता, स्थिति, आनन्त्य आदिकी भी उपपत्ति लगायी जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे सिद्धान्तके अन्दर अन्य सब सिद्धान्तोंका समावेश हो जाता है। अतएव सौंदर्यकी जो परिभाषा हमने दी है एव उसके तात्विक स्वरूपका जो विवेचन चौथे अध्यायमें किया गया है, वही ठीक विवेचन हो सकता है। जिन लोगोंने वर्षों कठिन तपस्या करके योग साधनद्वारा आत्माके स्वरूपको जाना है उनके साक्ष्यसे भी हमारे ही मतका समर्थन होता है।

योगशास्त्रमें महर्षि पतञ्जलिने चित्त वृत्तियोंके निरोधको ही योग कहा है एव उनके निरोधके अनेक उपाय बतलाये हैं। चित्त वृत्तियोंके निरोधसे सर्वप्रथम सम्प्रज्ञात समाधि होती है। यह सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकारकी है—(१) सवितर्का, (२) निर्वितर्का, (३) सविचारा, (४) निर्विचारा। किसी स्थूल विषयमें ध्यान लगानेसे पहले शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनोंके एकत्र ही भासित होनेका नाम सवितर्का एव स्मृतिके शुद्ध हो जाने पर स्वरूप शून्य जो केवल अर्थ मात्रका भासित होना है वह निर्वितर्का समाधि है। इसी तरह सूक्ष्म विषयोंमें ध्यान लगानेसे जो दो प्रकारकी समाधिया उत्पन्न होती हैं उनका नाम क्रमात् सविचारा और निर्विचारा है। सवितर्का एव सविचारामें बाह्य वस्तुका नाम रूप भी दृष्ट होता है। धीरे धीरे अभ्यास करते करते नाम रूपका ध्यान जाता रहता है एव अन्तमें केवल उपाधि और उस उपाधिमें भासित होनेवाला आत्म प्रतिविम्ब ही रह जाता है। उस समय केवल ज्ञाता, ज्ञान एव ज्ञेय (जो अपना प्रतिविम्ब है) यही तीन रह जाते हैं। इसीको सबीज या सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। निर्विचाराके वैशारद्यसे अध्यात्म प्रसाद होता है। ठीक यही दशा सौंदर्यबोधके समय होती है। उस समय हमें वस्तुके किसी और सम्बन्धका बोध नहीं होता

और न चित्तमें कोई और वृत्ति ही उठती है, एवं हमें अध्यात्मप्र या निष्काम आनन्द होता है। उस समय ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञे अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जो बातें सम्प्रज्ञात समाधिमें होत वे ही बातें सौंदर्यानुभवमें होती हैं। अतएव हम कह सकते हैं जिस आत्मरूपका दर्शन योग साधन द्वारा होता है वही हमें सौंदर्यबोधके समय दिखाई देता है। दोनोंमें कोई अ नहीं है। यदि कोई अन्तर है तो यही कि योग द्वारा जो आत्मद होता है वह प्रयत्न एवं साधनसे प्राप्त होता है इसलिए हमें उर ज्ञान रहता है और सौंदर्यबोधमें जो आत्मदर्शन होता है वह क्षा एव आकस्मिक होता है इसलिए हम अपने रूपको पहचानते ना यह सच है कि योगका लक्ष्य सम्प्रज्ञात समाधि नहीं है, योगी उपाधिके माध्यमसे दिखाई पड़नेवाले आत्म प्रतिबिम्बसे सन्तुष्ट होता। वह तो इससे आगे बढ़कर उपाधिका नाश करके स्वरूपमें स्थित होना चाहता है और यह अवस्था असम्प्रज्ञात समाधिमें होती इसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटी नहीं रहती, उस अवस्थाके तो योगदर्शनमें इतना ही कहा है कि "तदा द्रष्टुस्स्वरूपेऽवस्थान (यो० १ ३)-'उस समय द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होता है।' इससे हमारे विषयका सम्बन्ध नहीं है। हमारा विषय तो सम्प्र समाधिके ही समकक्षका है क्योंकि इसमें ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञे त्रिपुटी रहती है। और ऐसा होना ठीक भी है, क्योंकि असम्प्रज्ञात स धिमें जब कोई उपाधि या माध्यम ही नहीं रहता तो फिर आत्मरूप नेका प्रश्न भी नहीं उठता। बिना माध्यमके या दर्पणके अपना रूप नेको दिखाई नहीं पड़ सकता। आत्मरूप तो माध्यमके सहारे ही दि पड़ सकता है, इसलिए सौंदर्यबोधके लिए त्रिपुटीका होना आवश है। सौंदर्यके विषयमें महाकवि गेटेने अपना जो विचार

किया है उससे भी इसी बातका समर्थन होता है कि सौंदर्य माया रूपी माध्यम द्वारा दिखाई पड़नेवाला अपना प्रतिबिम्ब ही है। गेटेने कहा है—

"सौंदर्य न तो प्रकाश है और न अन्धकार, यह तो धुंधली रोशनी, सत्य और असत्यके मध्यकी स्थिति है।"* गेटेकी इस उक्तिका इसके अतिरिक्त क्या अर्थ हो सकता है कि 'सौंदर्य आत्माका प्रतिबिम्ब है'। प्रतिबिम्ब सत्य नहीं कहा जा सकता पर यह असत्य भी नहीं है, क्योंकि सत्यका ही प्रतिबिम्ब है।

इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि सौंदर्य आत्मस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हमारे अपने ही 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' स्वरूपकी प्रतिच्छाया या प्रतिबिम्ब मायामें दिखाई पड़नेका नाम सौंदर्य है। इस बातका अनुभव लगभग सभी विचारवान् पण्डितोंने किया है पर, जैसा कि हमने पूर्वमें दिखलाया है, वे लोग अपने सिद्धान्तके फेरमें पड़कर इसे ठीक शब्दोंमें व्यक्त नहीं कर सके हैं। हम नीचे कुछ उन विद्वानोंकी सौंदर्य विषयक उक्तियोंको उद्धृत करते हैं जिन्होंने सौंदर्यके तात्विक स्वरूपका अनुभव तो किया है पर सैद्धान्तिक हठके कारण उसे औरोंपर ठीक ढगसे व्यक्त नहीं कर सके हैं।

हेगल

"आत्माका इन्द्रियग्राह्य विषयोंके द्वारा अपने आपको व्यक्त करना ही सौंदर्य है।"†

शोपेनहार‡

"जब कभी भौतिक सौंदर्य अपने आपको हमारी दृष्टिके सामने

---

* Beauty is neither light nor darkness it is twilight, the medium between truth and untruth

† The Beautiful is the spiritual making itself known sensuously.

‡ Whenever natural beauty discloses itself suddenly to our view, it almost always succeeds in delivering us

सहसा व्यक्त करता है तभी यह हमें इच्छाके दासत्वसे मुक्त करनेमें—चाहे क्षणमात्रके लिए ही क्यों न हो—समर्थ होता है एवं हमें शुद्ध ज्ञानकी अवस्थामें पहुँचा देता है।"

शोपेनहारकी इस उक्तिसे हमारे इस मतका ही समर्थन होता है कि सम्प्रज्ञात समाधिमें योगीको जो अनुभव होता है वही अनुभव हमें सहसा क्षणमात्रके लिए सौंदर्यबोधमें हो जाया करता है।

हावेल

हावेलने अपने 'भारतीय कलाका आदर्श' (आइडिअल्स आफ इंडियन आर्ट) नामक ग्रंथ में लिखा है—

"इस प्रकार समस्त प्रकृति हमारे लिए सुन्दर प्रतीत होने लगेगी यदि हममें यह शक्ति हो कि हम प्रकृतिके भीतर रहनेवाली भगवद् प्रज्ञाका साक्षात्कार कर सकें।"* अगले अध्यायमें हमने इस विषयपर विचार किया है कि किन उपायोंसे हममें यह योग्यता आ सकती है।

इमरसन

"सत्य, शिव, एवं सौंदर्य उसी सर्व या परमब्रह्मके स्वरूप हैं।"†

प्रोफेसर जे एस किडनी

'ब्रह्मांडकी आत्माका नानात्वके भीतरसे हमारे लिए व्यक्त होना ही वस्तुगत सौंदर्य है।"‡

---

though it may only for a moment from subjectivity from the slavery of the will and in raising us to the state of pure knowing (Vide The World as Will and Idea)

* So all nature is] beautiful for us if only we can realise the Divine Idea within it

† Truth and Goodness and Beauty are different faces of the same All

‡ Objective Beauty is a discloser to us of the soul of the Universe in its manifoldness

प्रोफेसर जी. डी. टाड

"सुन्दर शिवका ही एक रूप है।"*

प्लोटिनस

"अन्तिम अवस्था या आध्यात्मिकतामें आत्माका किसी विशेष नाम-रूप द्वारा व्यक्त होना ही सौंदर्य है।"†

कीट्स

"सौंदर्य सत्य है, सत्य सौंदर्य है, बस यही तुम्हें ज्ञात यही जाननेकी तुम्हें आवश्यकता है।"‡

शेलिंग

"अनन्तका सान्त रूपमें प्रकट होना सौंदर्य है।" §

टेनिसन्

"सौंदर्य, शुभ और ज्ञान—ये तीनों सहोदर भाई हैं जिनमें परस्पर बड़ा गहरा प्रेम है। ये मानव-जातिके मित्र हैं और साथ साथ ही रहते हैं। हृदयको आघात पहुंचाये बिना इन्हें एक दूसरेसे पृथक् करना कदापि संभव नहीं।" ||

---

* The Beautiful is one form of the Good

† Beauty in its ultimate or metaphysical character is an expression a shining *forth of spirit in some particular* form or shape

‡ Beauty is truth, truth is beauty, that is all
Ye know on earth, all ye need to know

§ Beauty is the infinite represented in finite form.

|| Beauty, Good and Knowledge are three sisters,
That dote upon each other, friends to man,
Living together under the same roof,
And never can be sunder'd without tears

घीजी (Weisse)

"सुन्दर सार्वभौम या जगत्के सार रूप परमब्रह्मका परिमित एव सान्तमें अर्थात् सत्यके निषेधमें प्रवेश करना है।"* (मिलान करो—"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहित मुख"—सुवर्णमय पात्रसे सत्यका मुँह ढँका हुआ है।)

विक्टर कूज़्याँ

"सत्य, शिव, एव सुन्दर अनन्त (परमब्रह्म) के ही रूप हैं। फिर वास्तवमें सत्य, सौंदर्य एव नेकीमें हम किससे प्रेम करते हैं? हम अनन्तको ही प्यार करते हैं। अनन्त तत्त्वका प्रेम उसके स्वरूपोंमें छिपा हुआ है।"†

क्रोस (Croce)

"सौंदर्य वस्तुओंका गुण नहीं है चाहे वे पेड़ हों या रग, पर और सब गुणोंकी भाँति एक आध्यात्मिक क्रियाके परिणाम स्वरूप अस्तित्वमें आता है।"‡

कोलरिज (Coleridge)

"सौंदर्य प्रकृतिके आत्माधीन होकर एक सकेतके रूपमें परिवर्तित

---

* The beautiful is the entrance of the Universal or of the Essence into the limited and finite that is the cancelling or annulling of truth

† The True the Good and the Beautiful are but forms of the Infinite what then do we really love in truth, beauty and virtue? We love the Infinite himself The love of Infinite substance is hidden under the love of its forms.

‡ Beauty is no quality of things whether trees or pigments but like every other value only comes into being as the result of a spiritual activity

[illegible]नेका नाम है जिस संकेतके द्वारा आत्मा अपने आपको व्यक्त करती है।" *

आर टाफ़र (R. Toffer)

"परमात्मा सौंदर्य है एवं हमारे अन्दर सौंदर्यकी प्रज्ञा ईश्वरीय गुण है।" †

ए. विनेट (A. Vinet)

"किसी अवस्थामें शिव और सुन्दर एक ही हैं।" ‡

श्लेगल (Schlegel)

"सुन्दर सत्यसे भिन्न नहीं समझा जा सकता और न शिवसे ही पृथक् किया जा सकता है।" §

सोल्जर (Solger)

"हमें तभी सौंदर्य दिखाई पड़ता है जब हम उसमें सर्वव्यापक परमात्माकी चेतनता देखते हैं।" ||

लार्ड शेफ्टसबरी

"प्रकृतिमें जो कुछ सुन्दर है वह 'आदि सौंदर्य' की ही अस्पष्ट छाया है। सौंदर्य और परमात्मा एक ही और अभिन्न हैं।" ¶

---

* Beauty is the subjection of matter to spirit so as to be transformed into a symbol in and through which the spirit reveals itself.

† God is beauty and ideas of beauty in us are divine attributes there.

‡ At a certain depth the Good and the Beautiful are one.

§ The Beautiful can not be considered as distinct from the True ....nor can it be severed from the Good or detached from her.

|| Only then is beauty discerned when we see in it the living moving spirit of the all compassing Deity.

¶ Whatever in nature is beautiful is only the faint

केनन मूजली (Canon Mozley)

"भौतिक विज्ञान प्रकृतिके अन्तस्तलमें घुसता जाता है पर प्रकृति ऊपरके भागमें ही सौंदर्यका वस्त्र है, वह वस्त्र जिसके द्वारा हम उस परमात्माको देखते हैं।"*

छठाँ अध्याय

सुन्दर और भव्य

कुछ लोग सुन्दर और भव्यको भिन्न भिन्न समझते हैं। बर्क, प्रो० बाल्डविन आदि विद्वानोंका कहना है कि भव्य वस्तुओं (अनन्त आकाश, मरुभूमि, बिजली गिरते समय बादलोंकी गरज आदि) में भयका अंश मिला होता है। उनकी महानता हमें भयभीत कर देती है, पर सुन्दर वस्तुओंके देखते समय हमारे मनमें सुख और शान्ति होती है। जो हो, हमारी समझसे सुन्दर और भव्यमें कुछ अन्तर करनेकी आवश्यकता नहीं है। भव्यमें भी सौन्दर्यानुभव होता है और तमाम सौन्दर्यानुभवकी भाँति उसी समय होता है जब हम इस इच्छारूप जगत्से ऊपर उठकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं। भव्यताको सौन्दर्यसे पृथक् देखनेका कारण यही जान पड़ता है कि भव्य वस्तुओंके देखते समय प्राय हमारे मनमें भयका सचार हो आता है। इसका कारण यह है कि हमारी बुद्धि सदा इस छोटेसे शरीरको ही

---

shadow of the First Beauty Beauty and God are one and the same

* Physical Science goes back and back into nature, but here on the front of nature, lies a raiment of Beauty, the garment we see Him by

आत्मा समझा करती है अतः भव्य वस्तुओंको देखकर इसे अपनी क्षुद्रता-का ध्यान हो आता है और अपने नाशके भयसे वह काँप उठती है, क्योंकि उस समय बुद्धि नामरूपको ही देखती रहती है पर ज्यों ही बुद्धि नामरूपके आधारकी ओर ध्यान देती है और इच्छासे पिण्ड छुड़ाकर सत्वगुणमें स्थित होती है अर्थात् ज्यों ही बुद्धिमें सत्वोत्कर्ष होता है त्यों ही हमें उस भव्य वस्तुमें अपना महान् एवं अनन्त रूप दिखाई पड़ने लगता है। पर ऐसी वस्तुओंको, जो इस प्रकार अपनी महानता या आनन्त्यके कारण हमें अपने व्यक्तित्वसे ऊपर उठाती हैं, लोग सुन्दर न कहकर भव्य कह देते हैं। वास्तवमें यदि विचार करके देखा जाय तो सभी सुन्दर वस्तुएँ भव्य कहला सकती हैं, क्योंकि वे हमें इस क्षुद्र व्यक्तित्वसे ऊपर उठा देती हैं अर्थात् सुन्दर वस्तुओंके देखते समय भी हम स्व-रूपको ही देखते होते हैं। और जिस प्रकार कोई भी सुन्दर वस्तु हमें तबतक निष्काम आनन्द नहीं दे सकती जबतक हम राग द्वेषसे रहित न हो जायँ, उसी तरह कोई भी भव्य वस्तु हमें भव्य नहीं दिखाई पड़ सकती जबतक हम भयसे अपना पिण्ड न छुड़ा लें और भय द्वेषका ही एक दूसरा नाम है। डायसनने भी अपने अध्यात्म-शास्त्रके अंग नामक ग्रन्थके सौन्दर्यतत्त्व (मेटाफिजिक्स ऑफ दि ब्यूटीफुल) नामक अध्यायमें भव्यके ऊपर लिखते हुए इसी मतका प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं—"वास्तवमें जो कुछ सुन्दर है वह सब भव्य है, क्योंकि तमाम सांसारिक आवश्यकताओंसे ऊपर उठा होनेके कारण वह हमें भी अपने व्यक्तिगत अस्तित्वसे ऊपर उठा देता है"* अर्थात् इच्छासे पिण्ड छुड़ाकर बुद्धिरूपी दर्पणको शुद्ध कर देता है जिससे हमें अपना सौन्दर्य दिखाई पड़ जाता है।

---

* In reality all that is beautiful is sublime, since by its elevation above all earthly wants it raises us also beyond our individual existence

सुखकर (प्लेजरेबिल) और सुन्दर

सुन्दर और सुखकरका कुछ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्राय लोग निष्काम आनन्दकी बात सुनकर नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं। कुछ लोगोंका यह कहना है कि कोई भी सुन्दर वस्तु ऐसी नहीं है जिससे हमें आनन्द न मिलता हो और जिसके प्रति हमारा राग न होता हो, अतएव हम यह सकते हैं कि जो वस्तु हमें सुख देती है अर्थात् जिससे हमें आनन्द होता है वही सुन्दर है। सौन्दर्यजन्य आनन्दको निष्काम कहनेका तो कोइ कारण नहीं है, बल्कि हम यों कह सकते हैं कि सुखकर और सुन्दरमें कोई भेद नहीं है।

अब यदि इनके मतको मान भी लिया जाय तो भी हमारे सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता। यदि वास्तवमें देखा जाय तो जैसे सत्य और सुन्दर एक ही आत्माके स्वरूप हैं, वैसे ही आनन्द भी उसीका रूप है। पर जो लोग यह मानते हैं कि जो वस्तुएँ हमें आनन्द देती हैं वे ही सुन्दर होती हैं, वे इस तत्त्वको न समझ कर ही ऐसा कहते हैं। उनके मतसे आनन्द वस्तुओंका गुण है। पर यदि वे थोड़ा विचार करके देखें तो जान पड़ेगा कि वास्तवमें आनन्द वस्तुओंका गुण नहीं, अपना स्वरूप है, आत्माके आनन्द रूपकी प्रतिच्छाया ही वस्तुओंमें दिखाई देती है। हम एक उदाहरण द्वारा अपने इस विचारको और स्पष्ट करेंगे।

मान लीजिये कि आपका कोई मित्र विदेशसे बहुत दिनोंके बाद आया है। आपकी उससे जो इतने दिनोंके पश्चात् आज पहली भेंट हुई है, उससे आपको कितना आनन्द हो रहा है ? क्या आप उस समयके आनन्दको शब्दोंमें प्रकट कर सकते हैं ? नहीं, आपको उस समय असीम एव अनिर्वचनीय आनन्द होता है। अच्छा, मान लीजिये कि वह आपका मित्र एक मासतक आपके साथ रह गया। आप प्रतिदिन उससे मिलते हैं, बातें करते हैं, साथ खाते पीते हैं। पर क्या आपको दो चार दिनके बाद भी वैसा ही आनन्द उस मित्रको देखकर होता है जैसा प्रथम

मिलनके अवसरपर हुआ था ? आपको यह स्वीकार करना होगा कि अब आपको वैसा आनन्द नहीं होता। पर ऐसा क्यों ? मित्र तो वही है। और प्रथम दिनके आनन्दका कारण यदि वह मित्र था तो आज भी वह वैसा आनन्द क्यों नहीं देता ?

एक दूसरा उदाहरण लीजिये। यदि आप हलवाईकी दूकानसे कई दिन पहलेका बना हुआ पेड़ा लेकर किसी अमीरके ऐसे बालकको खानेको दें जो रोज़ ताजी मिठाई खाता हो तो वह उसे खायगा भी नहीं। अब वही मिठाई आप आजन्म कारावासकी सजा पाये हुए किसी क़ैदीको दीजिये और देखिये कि उसे खाकर वह कितना प्रसन्न होता है और आपको कितना आशीर्वाद देता है। अब विचारनेकी बात यह है कि आनन्द कहाँ है—उस मिठाईमें है, या खानेवालेके मनमें ? यदि मिठाईमें अर्थात् वस्तुमें आनन्द होता तो अमीरके बालकको भी वैसा ही आनन्द होना चाहिये था जैसा क़ैदीको हुआ। पर ऐसा होता तो नहीं है। फिर आनन्द क्या है ? क्या यह मनका धर्म है ? नहीं, यह मनका धर्म भी नहीं। यदि मनका धर्म होता तो मनमें सदा आनन्द ही रहना चाहिये था। पर ऐसा भी नहीं होता। अतः यह मनका धर्म भी नहीं। फिर आनन्द क्या है ? हमें उसका अनुभव कैसे होता है ? सबसे बड़ी बात यह है कि वह वस्तुगत क्यों दिखाई पड़ता है ?

बात यह है कि आनन्द कहीं बाहर वस्तुमें नहीं है, आनन्द तो आत्माका स्वरूप है। हमारी अन्तःकरणकी वृत्ति सदा बहिर्मुख रहती है, विषयेच्छाके कारण वह चञ्चल होती है। पर कभी कभी किसी इच्छाकी पूर्ति हो जानेसे क्षणभरके लिए मनकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है अर्थात् उसमें स्थिरता आ जाती है और वह अन्तर्मुख हो जाता है। उसी क्षण आनन्द स्वरूप प्रत्यगात्माका प्रतिबिम्ब उस मनमें पड़ जाता है और इस प्रकार मन आनन्दित हो उठता है। पर यह सब क्रिया

इतनी शीघ्रता एव अज्ञात रूपसे होती है कि मन इसकी कल्पना भी नहीं कर पाता है कि आत्मानन्दका प्रतिबिम्ब पड़ा है। यह तो उस आनन्दका कारण उस वस्तुको ही समझ बैठता है और इस प्रकार उससे उसका राग हो जाता है। पर मन बड़ा चञ्चल है। एक जगह स्थिर नहीं रह सकता और न एक ही चीज़को अधिक दिनतक पकड़े रह सकता है। यही कारण है कि जिस मित्रको देखकर हमें पहले पहल आनन्द होता है, उसी मित्रको प्रतिदिन देखनेसे आनन्द नहीं होता।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि आनन्द भी आत्माका ही रूप है। इस अर्थमें यदि हम आनन्द और सौंदर्यको एक ही समझें और इस आनन्दानुभव अथवा सौंदर्यानुभवको सकाम या सराग कहें तो इससे हमारे सिद्धान्तमें कोई दोष नहीं आता। हम सौंदर्यजन्य आनन्दको निष्काम इसीलिए कहते हैं कि इसमें आत्मरूप ही अनुभवका विषय होता है, कोई दूसरा नहीं। पर यदि कोई इसे भी सकाम ही कहनेकी ज़िद करे तो कहे। हमारा इससे क्या बिगड़ता है। हमारा तो केवल इतना ही कहना है कि सौंदर्य अपना ही स्वरूप है एव तज्जन्य आनन्द आत्मानन्द ही है।

असौंदर्य

यह सब तो हुआ परन्तु अभी एक शकाका उत्तर रह ही गया है। चौथे अध्यायके अध्ययनके बाद हमारे मनमें यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि सौदर्यकी यदि यह परिभाषा मान ली जाय—जिसके मान लेनेमें अब कोई बाधा नहीं रह गयी है—कि "स्थूल या सूक्ष्म वस्तुओंमें आत्माकी अभिव्यक्ति ही सौंदर्य है" तो फिर हमें जो असौंदर्य दिखाई पड़ता है उसका क्या कारण है? यदि यह सारा ससार मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही या आत्मा ही सर्वत्र एव सब कुछ है और सौंदर्य उसीका स्वरूप है तो हम किसी वस्तुको असुन्दर ('अगली') क्यों कहते हैं?

अतएव अब इसी प्रश्नका उत्तर देकर हम इस अध्यायको समाप्त करेंगे। वास्तवमें इस प्रश्नका उत्तर दिये बिना कोई भी सौंदर्यविषयक मीमांसा पूर्ण नहीं हो सकती।

साधारण जीवनमें जब हमारी बुद्धि स्वभावतः बहिर्मुख होती है, तब हमें संसारमें तीन प्रकारकी वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं। रागद्वेषके कारण हमारा ऐसा स्वभाव बन गया है कि हम किसी वस्तुको देखकर या तो प्रसन्न होते हैं, या घृणा करते हैं अथवा उदासीन रहते हैं। यह स्वभाव यों ही नहीं बन गया है और न इसमें कोई गूढ़ रहस्य है। यह केवल आधिभौतिक बात है। अनुभव द्वारा हमने कुछ वस्तुओंको सुखकर समझ लिया है। पूर्व अनुभवके कारण हमने समझ लिया है कि अमुक अमुक बातें जिन वस्तुओंमें एकत्र होती हैं, वे हमें सुख देती हैं। अब कहीं कहीं ऐसा होता है कि कुछ वस्तुएँ हमारी इस सुखकी कामनाको पूरी नहीं करतीं और कुछ वस्तुएँ हमारी इस इच्छा-की बाधक होती हैं। अतः जो वस्तुएँ केवल हमारी कामना पूरी नहीं करतीं उनकी ओरसे हम उदासीन रहते हैं, पर जो वस्तुएँ हमारी कामना-पूर्तिमें बाधक होती हैं उनसे हम घृणा करते हैं, उनसे हम द्वेष करते हैं और इसी द्वेषके कारण हम उन्हें कुत्सित कहते हैं। यह सबके अनुभवकी बात है कि अपने शत्रुमें यदि कोई गुण भी हो तो हमें वहाँ दोष ही दिखाई पड़ता है। "शत्रोरपि गुणा वाच्या" को माननेवाले बहुत कम हैं। पर जो वस्तुएँ हमारी कामनाकी पूर्ति करती हैं उनसे हमारा स्वभावतः प्रेम होता है, राग होता है। कुछ लोग इन्हीं प्रीतिकर वस्तुओंको सुन्दर कहते हैं और इसीलिए वे प्रीतिकर तथा सुन्दरमें, एवं उपयोगी और सुन्दरमें कोई भेद नहीं करते किन्तु प्रीतिकर और सुन्दरमें भेद है। प्रीतिकरको हम रमणीय कह सकते हैं पर सुन्दर नहीं कह सकते, क्योंकि प्रीतिकरता या रमणीयतासे हमें जो आनन्द होता है वह सकाम होता है पर सौंदर्यका आनन्द निष्काम होता है। इसका

कारण, जैसा कि हमने पहले ही बतलाया है, यह है कि सौंदर्य हमार अपना स्वरूप है और अपने आपसे रागद्वेष होना सम्भव नहीं है।

ऊपरके विवेचनसे अब यह स्पष्ट हो गया कि असौंदर्यका कारण द्वेष है और साधारण अवस्थामें जिन वस्तुओंसे हमारा राग होता है उन्हें हम रमणीय कह सकते हैं पर सुन्दर नहीं। इससे यह भी स्पष्ट है कि रागद्वेषके रहते हुए हमें सौंदर्यानुभव नहीं हो सकता। इस बातका अनुभव तमाम विचारवानोंने किया है कि इच्छाके रहते हमें स्थायी एवं अनन्त सुखका अनुभव नहीं हो सकता। सन्त आगस्टाइनने कहा है—

"भगवन्! तुम्हारे सौंदर्यने मुझे तुमसे मिला दिया था पर मैं अपने ही बोझके कारण पीछे खींच लिया गया।" "जीवका बोझ उसका अपना राग है—भूलसे अन्यत्र लगी हुई इच्छाका खिंचाव है।"* स्वनामधन्य बर्गसॉंने भी ऐसी ही बातें कही हैं। उनका कहना है—

"यदि हमें अपनी इन्द्रियों तथा बुद्धिसे सत्यका अपरोक्ष ज्ञान हो सकता, यदि हमको जगत् और अपने स्वरूपका अव्यवहित साक्षात्कार हो सकता तो हम सब कला विशारद होते। हम अपने अन्तस्तलमें अपने आन्तरिक जीवनका अबाधित राग सुनते, यह संगीत प्रायः सुखमय, अधिकतर दुःखमय, परन्तु सदा अपूर्व होता है। यह सब हमारे भीतर और हमारे चारों ओर है तो भी इसमेंसे किसीको भी हम साफ़ साफ़ नहीं देख पाते। हमारे और प्रकृतिके बीच अथवा हमारे और हमारी बुद्धिके बीच एक पर्दा पड़ा है जो साधारण मनुष्यके लिए घना और अपारदर्शक है परन्तु कलाविशारद और कविके

---

* I was caught up to Thee by Thy Beauty but dragged back again by my own weight. The weight of the soul is its love—the pull of a misplaced desire.

लिए पतला, बल्कि पारदर्शक है। यह पर्दा स्वार्थके तन्तुओंसे बुना हुआ है।"*

सारांश यह है कि असौंदर्यका कारण इच्छा है और सौंदर्य हमें तभी दिखाई पड़ सकता है जब हमारी बुद्धि निष्काम हो अथवा कोई वस्तु ऐसी हो जो हमारी बुद्धिको ठोकर देकर इच्छासे ऊपर उठाकर उसी निष्काम अवस्थामें पहुँचा दे। हम आगे अध्यायमें इन ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्धी अवस्थाओं (सबजेक्टिव एंड आबजेक्टिव कंडीशन्स) पर विचार करेंगे जिनपर सौंदर्यबोध निर्भर करता है।

सातवाँ अध्याय

सौंदर्य-बोधके कारण

पिछले अध्यायमें हमने दिखलाया है कि संसारमें सत्ता, भान, आनन्द, नाम, और रूप ये पांच बातें सर्वत्र पायी जाती हैं। इनमेंसे आदि के तीन आत्माके रूप हैं और शेष दो जगद्रूप। यहाँपर यह ध्यान रखना

---

* Could reality come into direct contact with sense and consciousness, could we enter into immediate communion with things and with ourselves, then we should all be artists .... Deep in our souls we should hear uninterrupted melody of our inner life, a music often gay, more often sad, always original. All this is around and within us, yet none of it is distinctly perceived by us. Between nature and ourselves, more between ourselves and our own consciousness hangs a veil, a veil dense and opaque for normal man, but thin, almost transparent, for the poet and artist. This veil is woven of self-interest.

चाहिए कि सत्, चित्, एवं आनन्द तीन पृथक् पृथक् गुण नहीं हैं बल्कि एक ही हैं। जो सत् है वही चित् है एवं जो सत् एवं चित् है वही आनन्द रूप भी है। हम साधारण अवस्थामें रूप एवं नामको ही देखते हैं। अपने वास्तविक स्वरूपकी ओर अर्थात् सच्चिदानन्द या सत्यं, शिवं, सुन्दरम्की ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती और इसीलिए जीव जन्म-मरण, सुख दु:ख आदि द्वन्द्वोंमें फँसा रहता है। पर क्या इस नाम-रूपसे कभी छुटकारा नहीं मिल सकता ? हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षियोंने इस विषयमें बड़ी गवेषणा की है और अन्तमें उन्होंने अनुभवद्वारा यही निश्चय किया है कि इस नाम-रूपात्मक जगत्से—इस तिलिस्मसे—सदाके लिए छुटकारा मिल सकता है। इसके लिए उन्होंने बहुत कुछ उपाय बतलाये हैं। योग, ज्ञान, भक्ति आदि अनेक मार्ग हैं जिनके साधनसे हम इस जगज्जालसे छूट सकते हैं। पर सब उपायोंका निचोड़ यही है कि

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।
बन्धाय विषया सङ्गि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ॥"

मैत्र्युपनिषद् ६. ३४., अमृतबिन्दूपनिषद् २

'मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण होता है। मन जब विषयासक्त होता है तब बन्धन है और उसीके निष्काम या नि:संग होने पर मोक्ष होता है।' और यह ठीक भी है, क्योंकि आत्मा तो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप है। वह न तो कर्त्ता है और न भोक्ता। कर्त्ता-भोक्तापन तो अहंकार द्वारा आरोपित है। इसीलिए ऋषियोंने यह निश्चय किया है कि बन्धन या मुक्ति और कुछ नहीं—मनका (अन्त:करणका) विषयाभिमुख होना अथवा नाम रूपको देखना और उसमें स्वार्थबुद्धिसे प्रेरित होना बन्धन है, दुख है; और उसी मनका आत्माभिमुख होना या नाम-रूपको छोड़कर सच्चिदानन्दको ही सर्वत्र देखना मुक्ति है, सुख है।

मनकी यह निर्विषयावस्था तीन अवस्थाओंमें होती है—(१) तमोगुणके अत्यन्त उत्कर्षकी अवस्थामें। घोर निद्रा या सुषुप्तिकी अवस्थामें मन निर्विषय रहता है, क्योंकि उस समय तमोगुणका अत्यन्त उत्कर्ष होता है। यही बात किसी जबरदस्त नशे द्वारा या बेहोशीकी दवा सूँघनेसे भी होती है। पर इस अवस्थामें निष्कामता या निर्विषयताकी चेतना नहीं रहती। पर यह तो एक दु खका ही दूसरा रूप है। (२) सत्वगुणके अत्यन्त उत्कर्ष या ज्ञानकी अवस्थामें। जब योग द्वारा या अभ्यास द्वारा हम यह जान जाते हैं कि सर्वत्र एक, अखण्ड, सच्चिदानन्द स्वरूप में ही सर्वत्र एव सब कुछ हूँ बल्कि यों कहिये कि देश, काल, एवं कारण (स्पेस, टाइम एंड काज़ेशन) से हम अपनी आत्माको परे समझ लेते हैं अर्थात् जब हम यह जान जाते हैं कि इस नाम-रूपात्मक जगत्के मूलमें एक ही सच्चिदानन्द-स्वरूप परब्रह्म है, उस समय हमारी दृष्टि जिस किसी भी नाम-रूपपर पड़ेगी वहीं हमें अपना सच्चिदानन्द स्वरूप दिखाई पड़ेगा और इस प्रकार हमारा मन विषयासक्त नहीं होगा। पर यह अवस्था बहुत दिनोंकी साधना, घोर तपस्यासे प्राप्त होती है।

(३) इन दोनोंके अतिरिक्त एक तीसरी अवस्था भी है जिसमें हमारा मन निर्विषय होता है एवं हमें निष्काम आनन्दका अनुभव होता है। इसीसे हमारे प्रकृत विषयका सम्बन्ध है। यह अवस्था है सौंदर्यानुभवकी। सौंदर्यानुभवकी दशामें भी हम नाम-रूप जगत्के परे अपने 'सत्य, शिवं, सुन्दरम्' रूपको देखते हैं एवं निष्काम आनन्दमें मग्न हो जाते हैं। पर यह अवस्था सदा नहीं आती और न साधारण जीवनमें यह अधिक क्षण स्थायी होती है। यह अवस्था तो उस समय कभी कभी आ जाया करती है जब कि हम रजोगुण अथवा प्रवृत्तिके उत्कर्षकी अवस्थामें रहते हैं पर अचानक कभी किसी बाहरी उद्बोधन द्वारा ठोकर लग कर अथवा हमारे मनमें निसर्गसे रहनेवाले सत्वगुणके आकस्मिक एवं क्षणिक उद्बोधके कारण हमें अपने वास्तविक रूपकी एक झलक दिखाई

पड़ जाती है और इस प्रकार बीच बीचमें इस बातका मानों संकेत हुआ करता है कि 'तुम इस इच्छा या मृगतृष्णाके पीछे मूर्ख मृगकी भाँति दौड़ने वाले, 'सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न' वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गोरे, काले, शासक, शासित, दुखी मजदूर-किसान अथवा दूसरों की कमाईपर मौज उड़ानेवाले आलसी पूंजीपति आदि नहीं हो, प्रत्युत तुम्हारा रूप इन सबके परे, सारे नाम रूपका आधारस्वरूप वह परब्रह्म है जिसमें ये सब नाम रूप कल्पित हैं। सारांश यह कि दो प्रकारसे हमें सौंदर्य-बोध होता है। अथवा यों कहिये कि सौंदर्यानुभवके लिए यह आवश्यक है कि ज्ञाता और ज्ञेयमें एकता स्थापित हो, ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ही देश, काल, एवं कारणसे रहित होकर सच्चिदानन्द-स्वरूप परब्रह्मके प्रतिबिम्बको स्पष्टतासे व्यक्त करने लगें। अर्थात् नाम-रूपको न देख कर जब कभी हमारी बुद्धि सत्वोत्कर्षके कारण सब अनित्य एवं परिवर्तनशील नाम-रूपोंके आधारको ही देखती है, उस समय हमें सारे संसारमें अपना ही रूप दिखाई पड़ता है और सब कुछ सुन्दर ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार जो कोई भी बाह्य वस्तु अपनी बनावट या परिस्थितिके कारण ऐसी हो जो नाम-रूपसे अधिक स्पष्टतासे उसके आधारको व्यक्त करती हो वह वस्तु हमारी बुद्धिको कामसे, तृष्णासे या स्वार्थसे ऊपर उठा कर उसी अवस्थामें पहुँचा देती है जो निष्काम आनन्दकी अवस्था है जिस अवस्थामें पहुँचनेपर *सर्वत्र सौंदर्य ही सौंदर्य है*, आनन्द ही आनन्द है। जहाँ स्वार्थकी, राग-द्वेषकी, इच्छा-तृष्णाकी पहुँच नहीं है। हम आगे इन दोनों कारणोंपर कुछ अधिक विस्तारसे पृथक् पृथक् विचार करेंगे।

ज्ञातापक्ष

ऊपर हमने बतलाया है कि 'सौंदर्य-बोध ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्धी कुछ ऐसी अवस्थाओंपर निर्भर करता है जिस अवस्थामें दोनों ही साधारण अवस्थासे ऊपर देश, काल एवं कारणसे परे उठकर परस्पर एक हो जाते

हैं। उनमेंसे पहला ज्ञाता है। ज्ञातामें सौंदर्य-बोधके समय कुछ परिवर्तन होता है। पर ज्ञाताके किस अंशमें परिवर्तन होता है? हमने चौथे अध्यायमें बतलाया है कि 'कूटस्थ ब्रह्म, मलिन सत्वगुण-प्रधान माया, और इस मायामें ब्रह्म या प्रत्यगात्माका प्रतिबिम्ब, इन तीनोंके संघातका नाम जीव या ज्ञाता है। अब विचारणीय विषय यह है कि सौंदर्य बोधके समय सम्पूर्ण संघातमें परिवर्तन होता है अथवा उसके किसी अंग विशेषमें? सम्पूर्णमें तो परिवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि यदि सम्पूर्णमें परिवर्तन मान लेंगे तो फिर कूटस्थ जो ब्रह्म है उसमें भी परिवर्तन मानना पड़ेगा। रह गया अंगोंमें परिवर्तन। तो यहाँ भी ज्ञातामें जो परब्रह्मका अंश है वह तो निर्विकार, सतत एवं अपरिवर्तनशील है अत उसमें कोई परिवर्तन हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार प्रतिबिम्बमें भी स्वत कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। प्रतिबिम्बका स्वरूप तो माध्यम एवं प्रतिबिम्बीपर निर्भर करता है। यदि प्रतिबिम्बीमें कोई परिवर्तन होगा तो प्रतिबिम्बमें भी होगा अथवा माध्यम जैसा होगा वैसा ही उसमें प्रतिबिम्ब होगा। अतः माध्यममें अर्थात् मायाशक्तिमें ही परिवर्तन होना युक्तिसंगत जान पड़ता है—बुद्धिमें ही परिवर्तन हो सकता है। और यह परिवर्तन और कुछ नहीं, केवल बुद्धिरूपी दर्पणका निर्विषय अर्थात् स्वच्छ होना है, कुछ क्षणके लिए ही सही पर बुद्धिका आत्माभिमुख होना ही उसका परिवर्तन होना है। हमें इस विषयपर कुछ और स्पष्टतासे विचार करना चाहिए।

कठोपनिषद् (४.१) में एक बड़ा ही सुन्दर मन्त्र आया है जो इस प्रकार है—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥"
(कठ. ४ वल्ली. १.)

'स्वयम्भू परमात्माने इन्द्रियोंको (बहिरिन्द्रियों एवं अन्तरिन्द्रियों

दोनोंको अर्थात् बुद्धिसे लेकर कर्मेन्द्रियों तक सबको) बहिर्मुख (देखनेके लिए) उत्पन्न किया या विस्तृत किया, इसीलिए मनुष्य बाहर ही अर्थात् केवल नाम रूपको या बाह्य दृश्यको ही देखता है, (अन्तर्मुख होकर) अन्तरात्मा (अपने वास्तविक स्वरूप कूटस्थ ब्रह्म) को नहीं देखता है। कोई धीर पुरुष अमृतत्व (मोक्ष) की इच्छा रखते हुए अपनी इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके प्रत्यगात्माको अर्थात् अपने स्वरूपको देखता है।' हमने इस मन्त्रको सुन्दर इसीलिए कहा है कि यदि विचार करके देखा जाय तो इस एक मंत्रके भीतर ही सारे सौंदर्य बोधका रहस्य है।

ऊपरके मन्त्रसे यह स्पष्ट है कि हमारी बुद्धि स्वभावतः बहिर्मुख रहती है क्योंकि बाह्य दृश्य देखनेके लिए ही वह निर्मित है। हम जब कभी बाहर दृष्टि डालते हैं तो संसारमें हमें दो प्रकारके दृश्य दिखाई

वर्तमान रहते हैं और अपने उत्कर्षकी प्रतीक्षामें रहते हैं। हमारी बुद्धि रजोगुणके उत्कर्षकी अवस्थामें सासारिक विषयोंमें सुख पानेकी इच्छासे विषयोंकी ओर दौड़ती है। वह एक वस्तुको प्राप्त करती है पर उसमें स्थायी सुख न पाकर दूसरीकी ओर झुकती है, उससे भी तृष्णा शान्त न होते देखकर तीसरीकी ओर दौड़ती है और इस प्रकार उस मूर्ख मृगकी भाँति जो सूर्य-रश्मियोंमें जलका आभास देखकर अपनी प्यास बुझानेके लिए इधरसे उधर और उधरसे इधर दौड़ा करता है पर अन्तमें थककर गिर पड़ता है, हमारी बहिर्मुख बुद्धि बाह्य वस्तुओंमें निर्द्वन्द्व, एव स्थायी सुखकी प्राप्तिके प्रयत्नमें विफल होकर और थककर जब कभी अन्तर्मुख होती है, उसी समय उसमें आत्माका प्रतिविम्ब पड़ जाता है और इस प्रकार हमें सौंदर्यबोध एवं सौंदर्यजन्य निष्काम आनन्द प्राप्त होता है। उस समय चूँकि कोई कामना बुद्धिमें नहीं रहती इसलिए बुद्धिरूपी दर्पण स्वच्छ रहता है एवं उसमें जो हमारे सत्य, शिव, सुन्दरम् अथवा सच्चिदानन्द स्वरूपका प्रतिविम्ब पड़ता है वह भी स्वच्छ ही होता है। इसीलिए उस समयका आनन्द निष्काम होता है। अथवा इस विषयको यों समझिये कि साधारणतया हमारे जीवनमें दोही गुणों-का उत्कर्ष अधिक देखा जाता है, प्रवृत्ति अवस्थामें अथवा जाग्रत अवस्थामें रजोगुणका एवं सुषुप्ति अवस्थामें तमोगुणका। जब दिनभर एक विषयसे दूसरेकी ओर एव दूसरेसे तीसरेकी ओर अर्थात् निरन्तर इधर उधर दौड़ते दौड़ते हमारी बुद्धि थक जाती है, तब वह स्वभावत शान्तिकी, आरामकी इच्छासे प्रेरित होती है और इस प्रकार उस समय तमोगुणका प्रभाव बढ़ने लगता है। बढ़ते बढ़ते वह इतना बढ़ जाता है कि तमाम इन्द्रियों सहित बुद्धिको अभिभूत कर लेता है एव घोर निद्रा-की अवस्थामें या लयकी अवस्थामें उन्हें डाल देता है। पर चूँकि उस अवस्थामें बुद्धिजन्य चेतना या वेदना वर्तमान नहीं रहती बल्कि केवल अज्ञान, "कुछ नहीं," और उस "कुछ नहीं" का साक्षी *प्रत्यगात्मा*

(ऐब्सट्रैक्ट सेल्फ) वहाँ शेष रहते हैं और चूँकि तमोगुणके उत्कर्षके कारण वहाँ जड़ताका, अन्धकारका साम्राज्य रहता है इसीलिए उस समय मायामें हमारा प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई नहीं देता और इसीलिए हमें सौंदर्यानुभव नहीं होता। प्रवृत्तिकी अवस्थामें अर्थात् रजोगुणकी अवस्थामें प्रबल विक्षेपके कारण बुद्धि-वृत्तिके स्थिर न होनेसे हमें अपना स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता। आप अपने हाथमें एक दर्पण लेकर उसे यदि बड़े वेगसे हिलायें अथवा उसपर एक मोटा सा पर्दा डाल दें तो क्या उस समय आपको अपना रूप दिखाई पड़ेगा? कदापि नहीं। ठीक यही दशा बुद्धिकी है। यह जब तमोगुणी होती है तब घोर अनात्मान्धकारके कारण और जब रजोगुणी होती है तब चञ्चलता एवं तृष्णारूपी मैलके कारण हमें आत्मरूप दिखाई नहीं पड़ता। परन्तु प्रवृत्तिकी अवस्थामें भी कभी कभी सत्वोत्कर्ष हो जाया करता है मानों बुद्धि बीच बीचमें थोड़ा विश्राम लेनेके लिए सत्वगुणका आश्रय ले लिया करती है। उस अवस्थामें भी चूँकि बुद्धिमें कोई कामना एव चञ्चलता नहीं रहती पर सत्वगुणके कारण उसमें चेतना वर्तमान रहती है, इसलिए उस समय जिस किसी वस्तुपर हमारी दृष्टि पड़ेगी वही सुन्दर दिखाई देगी। दूसरे शब्दोंमें हम यों कह सकते हैं कि जब कभी हमारी बुद्धि निष्काम होगी, तभी हमें सौंदर्यबोध होगा, क्योंकि उस समय हमारी दृष्टि वस्तुओंके नाम रूपपर, बाहरी बनावटपर नहीं पड़ती प्रत्युत उस नाम रूपके आधारपर, उस परब्रह्मपर पड़ती है जिसमें ये सब नामरूप कल्पित हैं एव जो हमारा अपना स्वरूप है। उस समय हमारी बुद्धि वह क्याथोड नली* बन जाती है जिसके भीतर आत्मप्रकाश अबाधित

* प्राय वायुशून्य काचकी नलीको क्याथोड कहते हैं जिसमें दोनों ओर बैटरीका तार लगाकर बिजली प्रवाहित करनेसे उस नलीके भीतर एक आलोक होता है जिसे क्याथोड रश्मि या एक्स रेज (X Rays) भी कहते हैं। यह रश्मि अपारदर्शक वस्तुओंका भी भेद सकती है।

गतिसे प्रकाशित होता है एवं साधारण अवस्थामें जिन वस्तुओंको हम सुन्दर नहीं कहते उन्हें भी उस समय सुन्दर कहने लगते हैं। उनमें भी सौंदर्य दिखाई पड़ने लगता है क्योंकि उस समय निष्काम अतएव निश्चल बुद्धिमें प्रकाशित होनेवाली क्याथोड रश्मिरूपी आत्मज्योति सभी वस्तुओंके नामरूप रूपी पर्देको भेदकर उनके मूलाधारको प्रकाशित कर देती है। इस प्रकार जिस आत्मरूपका साक्षात्कार हम इतने आयास एवं योगसाधन द्वारा प्राप्त करते हैं वही आत्मसाक्षात्कार हमें जीवन-संग्राम के बीच बीचमें अनायास हो जाया करता है और हमें बार बार अपने स्वरूपकी याद दिलाया करता है पर हम बाह्य विषयोंके मोहसे इतने मुग्ध होते हैं, नाम-रूपमें इतने फँसे रहते हैं कि इस अपने स्वरूपको नहीं पहचानते। बाह्य संसारका जादू हमारी बुद्धिपर इतना प्रभाव जमाये रहता है कि हम सौंदर्य बोधकी दशामें आत्मदेवको देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते।

जैसा कि हमने पहले कहा है, सौन्दर्य-बोध साधारण दशामें अधिक क्षणतक स्थायी नहीं होता। इसका कारण भी स्पष्ट ही है। हम इस सौन्दर्यानुभूतिको प्रयत्न द्वारा तो प्राप्त करते नहीं और न हमें सौन्दर्यानुभूतिके समय होनेवाले आत्मसाक्षात्कारका ही पता रहता है। यह तो नाना प्रकारके प्रयत्नोंमें लगी हुई बुद्धिमें कभी कभी अनायास, स्वभावतः सत्वोत्कर्ष होनेके कारण अतएव काम, इच्छा या तृष्णारूपी पर्देके थोड़ी देरके लिए हट जानेकी वजहसे हो जाया करता है और थोड़ी ही देरमें इच्छाके पुनः जागृत हो जानेके कारण लुप्त हो जाया करता है। यह अवस्था अर्थात् सर्वत्र सौन्दर्य ही देखनेकी योग्यता प्रयत्नसे—साधनासे—स्थायी बनायी जा सकती है अथवा यह ज्ञाता-सम्बन्धी अवस्था चेष्टा करनेसे लायी जाती है। हम आगे चलकर इस अध्यायके अन्तमें इस विषयपर विचार करेंगे कि अपने अन्दर सर्वत्र सौन्दर्य देखनेकी योग्यता कैसे लायी जा सकती है। यहाँ तो हम उस अवस्थाका

ही विचार कर रहे हैं जिसमें पहुँचनेसे सभी वस्तुएँ सुन्दर दिखाई पड़ती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब कभी अनायास एवं स्वभावत, संस्कृति अथवा शिक्षा और विराग एवं योगके अभ्यास द्वारा हमारा अन्तःकरण स्वच्छ, स्थिर तथा इच्छारहित हो जाता है उस समय हमें इस संसारमें सर्वत्र सौन्दर्य ही सौन्दर्य दिखाई पड़ता है।

सौन्दर्य-बोधमें ज्ञेयका स्थान

पहले हम यह कह आये हैं कि सौन्दर्य बोधमें कभी कभी बाह्य वस्तु भी सहायक होती है। अतः यहाँपर कुछ थोड़ा सा इस विषयपर भी हमें विचार करना चाहिए कि सौन्दर्य-बोधमें ज्ञेयका कहाँतक हाथ है।

चौथे अध्यायके अध्ययनसे पता लगता है कि ज्ञाता एवं ज्ञेय भिन्न भिन्न नहीं हैं। एक, अद्वितीय, निर्गुण एवं निर्विकार परब्रह्ममें उसीकी शक्ति माया एक ओर तो ज्ञातापन एवं दूसरी ओर ज्ञेयपनकी कल्पना या अध्यारोप करती है। जहाँतक आधारका सम्बन्ध है वहाँ तक ज्ञाता एवं ज्ञेय भिन्न भिन्न नहीं हैं, दोनों एक ही हैं बल्कि उनको दो कहना ही मूर्खता है। महामति कबीर तो आधारको दो कहनेवालोंपर बड़ा नाराज होकर कटु वाक्यका भी प्रयोग कर डालते हैं। उन्होंने कहा है—"जो साहब दूजा कहै, दूजा कुलका होय"। पर जहाँतक नाम-रूपका सम्बन्ध है ये दोनों पृथक् पृथक् दिखाई पड़ते हैं। ज्ञेय जबतक नामरूपको ही अधिक प्रकाशित करता है तबतक वह ज्ञेय है एवं ज्ञाता जबतक नामरूपको ही देखता है तबतक ज्ञाता है। पर जब दोनोंमेंसे कोई एक नामरूपसे परे हटकर आधार-स्वरूप ब्रह्मको व्यक्त करने लगता है अथवा यों कहना अधिक अच्छा होगा कि ज्ञाता या ज्ञेय दोनोंमेंसे किसी एकके भी भीतरसे जब इन दोनोंके मूल आत्मदेव प्रकाशित होने

लगते हैं उस समय दूसरेके भीतरसे भी वही प्रकाशित होने लगते हैं। कहावत है कि "खरबूजेको देखकर खरबूजा रंग बदलता है"। इनमेंसे ज्ञातापर हम विचार कर चुके और यह भी देख चुके कि जिस समय हमारी बुद्धि निष्काम होती है, उस समय हमें सर्वत्र सौन्दर्यानुभव होता है।

इसी प्रकार जब कोई बाह्यवस्तु नामरूपके बदले अपनी बनावट, परिस्थिति या और किसी कारणसे नामरूपके आधार सच्चिदानन्द ब्रह्मकी ओर संकेत करती है उस समय हमारी बुद्धि भी इच्छाके जंजालसे ऊपर उठ जाती है एवं निष्काम अवस्थामें पहुँच जाती है और इस प्रकार वहाँ आत्मरूप ही दिखाई पड़ता है। पर साधारण बुद्धि माध्यम-स्थानीय नामरूपको ही सुन्दर समझ बैठती है। इस बातको न समझ सकनेके कारण ही सौन्दर्य विषयक इतने भिन्न भिन्न सिद्धान्त बन गये। किसीने अनेकतामें एकता, शुद्धता, आदिको ही सौंदर्य समझा तो किसीने सौंदर्यको मानसिक अवस्थाके अतिरिक्त और कुछ नहीं माना। वास्तवमें जिन लोगोंने बाह्य सौंदर्यकी बात कही एवं जिन लोगोंने सौंदर्यको मनका धर्म माना इन दोनोंने सत्यका एक अंश ही देखा और उसीपर ज़ोर दिया। पूरा सत्य तो इन दोनोंके मिला देनेपर जाना जाता है, अस्तु।

ज्ञेयसम्बन्धी अवस्थापर कुछ और अधिक विचार करनेकी आवश्यकता है। चौथे अध्यायमें हमने देखा है कि सर्वप्रथम परब्रह्ममें बुद्धिकी कल्पना हुई, बुद्धिसे अहंकार, अहंकारसे सेन्द्रिय एवं निरिन्द्रिय दो प्रकारकी सृष्टि हुई। निरिन्द्रिय सृष्टिमें सर्वप्रथम एक गुणवाला पदार्थ आकाश उत्पन्न हुआ और फिर क्रमसे वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों ज्यों हम स्थूलभूतोंकी ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों त्यों मायाका पर्दा घनीभूत होता जाता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि इस मायाजालसे छूटनेके लिए जब कभी कोई उद्योग

करेगा तो उसे अध्यारोपके विपरीत क्रमसे ही आगे बढ़ना होगा। जब कोई योगी यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार सिद्ध करनेके बाद ध्यान, धारणा एवं समाधिका अभ्यास करने बैठता होगा उस समय ऐसा तो होता न होगा कि एकाएक यह स्थूल सूक्ष्म जगत् उसके सामनेसे तिरोहित हो जाता हो। बल्कि इसके विपरीत हमें यही ठीक जँचता है कि जब यह ध्यान करने बैठता होगा, उस समय पहले उसकी दृष्टिके सामनेसे पृथ्वी विलीन होती होगी, जलका लय होता होगा अर्थात् क्रम क्रमसे ही ये पचभूत अपनी अपनी सूक्ष्म तन्मात्राओंमें और वे क्रमसे ही अहङ्कारमें लीन होते होंगे और ज्यों ज्यों मायाका पर्दा पतला होता जाता होगा त्यों त्यों उसके भीतरसे आत्मप्रकाशकी झलक कुछ कुछ आने लगती होगी। यह हमारा अनुमान ही अनुमान नहीं है। जिन लोगोंने प्राचीन समयमें इस विषयकी खोज की थी उनका कहना भी कुछ कुछ ऐसा ही है। योगदर्शनमें महर्षि पतंजलिने सम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद किये हैं यथा—

"वितर्क विचारानन्दास्मिता रूपानुगमात् सम्प्रज्ञात"

(योगद० 1. 17)

वितर्क, विचार, आनन्द एव अस्मिता (आई एम नेस) रूप अनुगमसे सम्प्रज्ञात समाधि होती है।

सम्प्रज्ञात समाधि उस अवस्थाका नाम है जिसमें मनमें, अन्त करणमें कोई इच्छाएँ नहीं उठतीं, जिसमें प्रकृति अथवा माया और पुरुष या प्रत्यगात्मा अपने अपने शुद्ध रूपमें एक दूसरेके सम्मुख होते हैं, और जिसमें ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेयकी त्रिपुटी बनी रहती है। पर इस त्रिपुटीमें मोह, अज्ञान आदि नहींके बराबर होते हैं। शुद्ध मायामें प्रत्यगात्मा अपने निर्मल एवं सुन्दर प्रतिबिम्बको देखकर आनन्दसे नाच उठता है। पर यह अवस्था एकाएक नहीं होती। पहली अवस्था सवितर्क होती है। सवितर्क ध्यानमें स्थूल पंचमहाभूत ही या इन्हींका कोई विकार

सूर्य, चन्द्रादि ध्यानका विषय होता है, उसके बाद स्थूलके कारण रूप पच सूक्ष्म तन्मात्राओंमें ध्यान लगानेका नाम 'सविचार योग' है। फिर उससे भी सूक्ष्म एवं उसके भी कारण स्वरूप अहंकारके ध्यानका नाम 'आनन्द' योग है और इसके भी कारणस्वरूप 'बुद्धि' या 'महत्' म ध्यान लगानेको 'अस्मिता' योग कहते हैं। जैसे सूर्यमें ध्यान लगाना सवितर्क, उसके बाद सूर्यके कारणस्वरूप तेजकी तन्मात्रामें ध्यान लगाना सविचार, और फिर तन्मात्राओंके कारणरूप अहंकारमें ध्यानका लगना 'सानन्द' एव बुद्धिमें ध्यान लगना 'सास्मित' है। स्पष्ट ही है कि 'सास्मिता योग' क्रम क्रमसे ही प्राप्त होता है। इससे यह भी समझना अब कठिन नहीं है कि 'सवितर्क' की अपेक्षा 'सविचार' में जो पर्दा है या मायाका छिल्का अथवा तह है वह अधिक पतला है और 'सविचार' से 'सानन्द' वाला पर्दा और भी पतला है तथा अन्तमें जो 'अस्मिता' वाला पर्दा है वह तो नहींके बराबर है। उस अवस्थामें तो पर्दा रहते हुए भी हम परमानन्दका सुख भोग सकते हैं, अपने अनन्त सौंदर्यका साक्षात्कार करके निष्काम आनन्दका अनुभव कर सकते हैं। यही अवस्था सौंदर्याभिव्यक्तिकी चरम सीमा है, वास्तविक सौंदर्य एव सौंदर्यजन्य आनन्दका सच्चा अनुभव हमें यहीं होता है। पर पहलेकी भूमियों या अवस्थाओंमें भी उत्तरोत्तर अधिक सौंदर्यानुभव होता है क्योंकि ज्यों ज्यों पर्दा पतला होता जाता है त्यों त्यों आत्मप्रकाश अधिकाधिक स्फुटतासे पर्देके भीतरसे व्यक्त होने लगता है।

परन्तु एक बात और हमारे अनुभवकी है, और वह यह कि पर्देमें रहनेवाली वस्तुका हमें दो प्रकारसे साक्षात्कार होता है। एक तो क्रमश पर्देको सूक्ष्म करते करते इतना सूक्ष्म कर देनेसे कि उसके भीतरसे वह वस्तु साफ दिखाई देने लगे, दूसरे कभी कभी अचानक किसी बाहरी हवाके झोंकसे अथवा किसी और कारणसे क्षणमात्रके लिए पर्देके हट जानेसे भी पर्देनशीनकी एक झलक दिखाई पड़ जाती है। इनमेंसे

पहली बात तो प्रयत्नके अधीन है जिसके विषयमें हम पहले कुछ कह चुके हैं और आगे फिर विचार करेंगे, पर दूसरी अवस्थाका साक्षात्कार आकस्मिक है। ठीक यही दशा सौंदर्यानुभूतिकी भी है। साधारण जीवनमें हमें जो कभी कभी बाह्य वस्तुओंके माध्यम द्वारा अथवा नामरूपके पर्देमें रहनेवाले आत्मसौंदर्यका साक्षात्कार हो जाया करता है वह आकस्मिक ही होता है।

उपर्युक्त विवेचनके बाद अब हमारे लिए यह समझना कठिन नहीं है कि सौन्दर्यक्षेत्रमें बाह्य वस्तुओंका कहाँतक हाथ है। जो कोई भी स्थूल या सूक्ष्म वस्तु अपनी बनावट या परिस्थिति आदिके कारण नाम-रूपके बदले अपने आधारको अधिक व्यक्त करती होगी उस वस्तुके देखनेपर सौन्दर्यानुभव होनेकी अधिक सम्भावना होगी, क्योंकि वहाँ नामरूपके आधारके व्यक्त होनेके कारण पर्दा कुछ अधिक सूक्ष्म हो जाता है एवं वह वस्तु नामरूपसे ऊपर उठनेके कारण हमारी बुद्धिको भी उसी अवस्थामें पहुँचा देती है जिसमें पहुँचकर "गरलसुधा, रिपु करै मिताई" की दशा हो जाती है अर्थात् सर्वत्र सौन्दर्य ही सौन्दर्य दिखाई पड़ने लगता है। पर चूँकि बुद्धिकी यह दशा किसी बाह्य वस्तुके माध्यम द्वारा होती है और चूँकि हमारी दृष्टि बाह्य वस्तुपर ही रहती है इसलिए हमें वहीं सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। अथवा यों कहिये कि *वैचित्र्यमें एकता, समानुपात, आनन्त्य, शुद्धता, स्थिरता* आदिके *कारण* बाह्य वस्तुओंमें रूप एवं नाम अथवा अध्यारोपका पर्दा अकस्मात् क्षण-मात्रके लिए हट जाता है और हमें आत्मसौन्दर्यकी एक झाँकी दिखाई पड़ जाती है। जहाँ वैचित्र्यमें एकता है वहाँ हमारा ध्यान नामरूपकी ओर नहीं जाता प्रत्युत 'वैचित्र्यमें एकता' हमें अपने उस अनन्त एवं एकरस रूपकी स्मृति कराती है जिसपर यह नानात्व या वैचित्र्य रूप जगत् कल्पित है, पर इस नानात्वसे हमारे उस निर्विकार रूपमें कोई विकार नहीं आता। इसी प्रकार आनन्त्य, शुद्धता एवं स्थिरता आदि

में जिन वस्तुओंमें पाये जाते हैं वहाँ भी अकस्मात् हमें अपने देश-काल से परे निर्विकार एवं निश्चल रूपका ही साक्षात्कार हो जाता है। और इतने ही भरके लिए बाह्य नामरूपात्मक जगत्का उपयोग सौन्दर्यबोधमें होता है। नामरूप सुन्दर नहीं होता प्रत्युत जिस हदतक इस नामरूप के सूक्ष्मतर होते जानेसे उसके आधारस्वरूप आत्मदेव उसमेंसे प्रकाशित होते हैं अथवा अकस्मात् मायाका अध्यारोप रूपी पर्दा हटकर क्षणमात्रके लिए आत्मसौन्दर्य दिखाई पड़ जाता है (और फिर ज्योंका त्यों पर्दा गिर जाता है), उसी हदतक हमें वस्तुएँ सुन्दर दिखाई देती हैं अथवा उसी हदतक हमें आत्मसौन्दर्यका साक्षात्कार एवं तज्जन्य निष्काम आनन्द प्राप्त होता है।

इस बातको अच्छी तरह हृदयगम करनेका सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि आप अपने सामने एक बड़ा दर्पण रख दें और अपने मुँहपर एक ऐसा पर्दा डाल लें जिसमें कई तहें हों पर सबसे ऊपरका पर्दा काला एवं गाढ़ा हो और उससे नीचेके पर्दे क्रमश उससे अधिक पतले होते गये हों, यहाँ तक कि अन्तिम पर्दा बहुत ही सूक्ष्म जालीदार एवं सफेद हो। अब आप देखेंगे कि पर्देके ज्योंके त्यों मुँहपर पड़े रहनेपर अपना प्रतिबिम्ब दर्पणमें बिलकुल नहीं दिखाई पड़ेगा पर यदि आप अकस्मात् क्षणमात्रके लिए पर्देको मुँहपरसे हटा दें और फिर ज्योंका त्यों पर्दा गिर जाने दें तो क्षणमात्रके लिए तो आत्म साक्षात्कार हो ही जायगा और कुछ देरतक उसकी स्मृति बनी रहेगी। पचस्थूलमहाभूतात्मक जगत्में जो सौन्दर्यानुभव ज्ञेयतन्त्र है, वह इसी प्रकारका है। इसके बाद आप सबसे ऊपरवाला पर्दा हटा दीजिये। अब भी यद्यपि आपको अपने मुँहका प्रतिबिम्ब, दर्पणमें दिखाई नहीं देगा पर आँखोंको पर्देके भीतरसे भी कुछ कुछ आभास आने लगेगा एव आँखें कुछ अधिक सुखी जान पड़ेंगी, आँखोंका बोझ कुछ हल्कासा जान पड़ेगा। हाँ, इस अवस्थामें भी आप चाहें तो पर्देको ज़रा देरके लिए हटाकर अपनी एक झाँकी देख

सकते हैं। इसी प्रकार आप देखेंगे कि ज्यों ज्यों आप सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर पर्दोंको क्रमश हटाते जायँगे, त्यों त्यों आपको पर्देके भीतरसे अपने मुँहका धुँधला प्रतिबिम्ब जो पर्दासहित ही होगा, दर्पणमें झलकने लगेगा और यदि आप चाहें तो, या सयोगवश कभी कभी पर्दा हट जानेपर, क्षणमात्रके लिए अपना सौन्दर्य देख सकते हैं। परन्तु जो सबसे अन्तिम पर्दा है वह इतना सूक्ष्म है कि नहींके बराबर है, इसलिए अब समूचे पर्देको चेहरेपरसे हटानेकी आवश्यकता नहीं रह जाती, अब तो वह पर्दा रहते हुए भी हमें अपने मुँहका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई पड़ता है। ठीक यही दशा सूक्ष्म जगत्के सौन्दर्यकी है। यह हम पहले ही बतला आये हैं कि बुद्धि, अहकार, मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ एव पचतन्मात्राएँ यह सूक्ष्म सृष्टि है पर इनमें पूर्ववाले अपने उत्तरवालेसे अधिक सूक्ष्म हैं। इसलिए सूक्ष्म जगत्की वस्तुएँ स्थूलकी अपेक्षा अधिक आकर्षक होती हैं। हम अगले अध्यायमें इस बातको दिखलानेका यत्न करेंगे कि किस प्रकार स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्मका एव सूक्ष्ममें भी तारतम्यके अनुसार तत्तद् जगद्का सौन्दर्य उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है एव अधिक स्थाई तथा सार्वदेशिक होता गया है। यही कारण है कि प्लोटिनस आदि विद्वानोंने बौद्धिक सौन्दर्यको सर्वापेक्षा श्रेष्ठ माना है, क्योंकि उस अवस्थामें माया रूपी पर्दा इतना सूक्ष्म हो जाता है कि आत्माका प्रकाश उसमेंसे फूटकर बाहर निकला पड़ता है, क्योंकि यह अन्तिम और सूक्ष्मतम पर्दा है।

उपर्युक्त विवेचनसे पाठकोंकी समझमें यह बात अच्छी तरह आ गयी होगी कि चौथे प्रकरणके आदिमें सौन्दर्यकी हमने जो यह परिभाषा दी थी कि "स्थूल या सूक्ष्म जगत्मेंसे आत्माकी अभिव्यक्तिका नाम सौन्दर्य है" वही उचित परिभाषा है, एव यह अभिव्यक्ति ज्ञाता ज्ञेय सम्बन्धी किन अवस्थाओंपर निर्भर करती है यह भी स्पष्ट हो गया होगा। सारांश यह है कि यदि हमारी बुद्धि निष्काम हो जाय, उसमें सत्त्वोत्कर्ष हो जाय तो हमें सर्वत्र सौन्दर्य ही सौन्दर्य दिखाई पड़ेगा, अथवा बाह्य

वस्तुएँ या नामरूपात्मक जगत्‌की कोई वस्तु अपनी बनावट, गठन या परिस्थितिके कारण नामरूपके आधारको अधिक व्यक्त करती हो तो उस समय तद्वस्तुके माध्यमसे हमें वहाँ सौन्दर्यानुभव होगा।

अब हम अन्तमें थोड़ासा इस विषयपर विचार करके कि ज्ञाता संबन्धी अवस्था कैसे उत्पन्न की जा सकती है, इस अध्यायको समाप्त करेंगे।

हमने देखा है कि सौंदर्यानुभवमें निष्काम आनन्द होता है। दूसरे शब्दोंमें हम यों कह सकते हैं कि यदि हमारी बुद्धि निष्काम हो तो हमें सौंदर्य दिखाई पड़ेगा। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यदि हम सौंदर्यका अनुभव करना चाहते हैं, यदि हम चाहते हैं कि हमें सर्वत्र सौंदर्यही सौंदर्य दिखाई पड़े तो हमें अपनी बुद्धिको निष्काम बनाना होगा, हमें अपने अन्दरकी तृष्णाको निकाल बाहर करना होगा। क्रूस वाले सन्त जानने अपना अनुभव इस प्रकार प्रकट किया है। वे कहते हैं—

"यदि तुम चाहते हो कि सब वस्तुओंमें तुम्हें आनन्द प्राप्त हो, तो किसी भी वस्तुमें आनन्द न ढूँढ़ो*" इसका भी यही मतलब है कि सर्वत्र आनन्द प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि हम किसी कविकी भांति अपनी अन्तरात्मामें इसी मंत्रको जपते रहें कि—

"पूरी हुई तमन्ना जो दिलमें थी मगर,
अब दिलकी आरजू है. कोई आरजू न हो।"

तभी हम सर्वत्र सौंदर्य देख सकते हैं, एवं तभी हमें सर्वत्र तथा सब समय निष्काम और विशुद्ध आनन्दका अनुभव होगा।

परन्तु मनकी चञ्चलता दूर हुए बिना यह कैसे सम्भव है कि हमारे अन्तःकरणमें कोई इच्छा ही न उत्पन्न हो? जिस मनके विषयमें भगवान्

* That thou mayest have pleasure in every thing, seek pleasure in nothing.

कृष्ण कहते हैं कि "इसका निग्रह करना वायुकी भाँति बड़ा ही दुष्कर है, कठिन है," उस मनको एकाग्र करनेका, निश्चल करनेका क्या साधन हो सकता है ? योगशास्त्रमें ऐसे अनेक उपाय बताये गये हैं जिनसे चित्त एकाग्र होता है। योगदर्शनके समाधिपादके ३३ वें सूत्रसे प्रारम्भ करके ३९ व सूत्र तक मनको एकाग्र करनेके ही उपाय बताये गये हैं। जो जिस उपायका अधिकारी हो अथवा जिसे जो उपाय अच्छा लगे वह उसी उपायसे अपने मनको एकाग्र करे । उसमें तो यहां तक कह दिया है कि *"यथाभिमत् ध्यानाद्वा"* (*यो० १ ३९*) जिसका भाव यही है कि यदि आप और किसी तरहसे अपने मनको एकाग्र नहीं कर सकते तो आपको जो चीज़ अच्छी लगे उसीका ध्यान कीजिये। जो कोई भी प्राणी या वस्तु आपको अधिक प्रिय हो उसके ध्यानमें आप इतने तल्लीन रहिये कि चले फिरते, सोते जागते, उठते बैठते उसीका ध्यान बना रहे। किसी छोटेसे छोटे परमाणुसे लेकर महान्‌से महान् वस्तुमें आप ध्यान लगा सकते हैं (दे० योग० १-४०) । इसका परिणाम यह होगा कि कुछ दिनके बाद आपका चित्त शुद्ध स्फटिककी भाँति स्वच्छ हो जायगा क्योंकि उस समय आपके चित्तकी वृत्तियाँ *क्षीण* हो जायँगी। फिर आप अपने चित्तको जिस किसी भी वस्तुमें लगावेंगे उसीका रूप होकर वह भासित होने लगेगा। अर्थात् उस समय केवल ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय या ग्रहीता, ग्रहण, ग्राह्य अपने शुद्ध रूपमें प्रकाशित होने लगेंगे । इसीको योगदर्शनमें सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा एव निर्विचारा समापत्तिके नामसे चार भेदोंमें विभक्त किया गया है और अन्तमें कहा है कि *"निर्विचार वैशारद्ये अध्यात्म प्रसाद."* (योग १-४७) 'निर्विचारके शुद्ध एव स्वच्छ होनेसे अध्यात्म प्रसाद होता है' अर्थात् इस सबीज समाधि या सम्प्रज्ञात समाधिमें जो आनन्द होता है वह निष्काम एव शुद्ध होता है। यही सौंदर्यबोधका आनन्द है। इस अवस्थामें पहुँचकर मनुष्यको सर्वत्र निष्काम आनन्द

का ही अनुभव होता है, सर्वत्र सौंदर्य ही सौंदर्य दिखाई पड़ता है, क्योंकि उस समयकी बुद्धि या प्रज्ञाका नाम योगदर्शनमें "ऋतम्भरा" रखा गया है जिसका भाव यह है कि उस समय बुद्धि वस्तुओंके नाम रूप-को न देखकर उनके आधारको देखती है (देखो योग० १-४८-५०)।

ऐसे ही भक्ति, ज्ञान आदि और भी अनेक उपाय हैं जिनसे मनकी एकाग्रता प्राप्त हो सकती है, जिससे हम मनको निष्काम बना सकते हैं एवं सर्वत्र सौंदर्य देख सकते हैं। संस्कार, शिक्षा एवं वैराग्य योगकी सहायतासे जो आदमी जितना ही अपनी इच्छाओंको वशमें रखेगा, जिसके मनमें जितनी ही कम वासनाएँ उठेंगी उतना ही अधिक वह सौंदर्यका अनुभव कर सकेगा एवं निष्काम आनन्दका सुख भोग सकेगा।

आठवाँ अध्याय

कलामें सौंदर्य

अब तक हमने सौंदर्यके स्वरूप एवं सौंदर्यबोधमें ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्धी अवस्थाओंपर विचार किया है। अब इस अध्यायमें हम अपने सिद्धान्त-के सहारे कलाके सौंदर्यकी कुछ विवेचना करेंगे। 'कलाका सौंदर्य' कहने-से यह न समझ लेना चाहिये कि यह आत्मरूपसे भिन्न कोई और ही प्रकारका सौंदर्य है। नहीं, यह भी आत्मरूप ही है, अपना ही सौंदर्य है जो वर्ण, स्वर, प्रस्तर आदि उपकरण-समूहमेंसे अभिव्यक्त होता है।

यहाँ पर एक बड़ा विवादास्पद प्रश्न उठ खड़ा होता है। वह यह है कि 'कला क्या है? अथवा, कलाका उद्देश्य क्या है?' इस विषय-पर अनेक विद्वानोंने अनेक प्रकारसे विचार किया है और सबने अपने अपने मतके अनुसार कलाकी परिभाषा एवं कलाका उद्देश्य बतलानेकी

चेष्टा की है। महात्मा टाल्स्टायने अपने 'ह्वाट इज़ आर्ट' नामक ग्रन्थके तीसरे अध्यायमें उन तमाम सिद्धान्तोंका वर्णन किया है जो उनके समय तक प्रचलित थे एवं जिनका उन्हें पता था और फिर अगले अध्यायमें उन सबका खंडन किया है। पहले तो उन्होंने यह कहा है कि "साधारण शिक्षित व्यक्ति यह समझा करता है कि कला एक ऐसी क्रिया है जिससे सौंदर्यकी उत्पत्ति होती है।" * फिर ऐसा विचार रखनेवालोंका कुछ उपहास करते हुए वे आगे प्रश्न करते हैं—"परन्तु यह सौंदर्य है क्या जो कलाका विषय है?" † इसके बाद उन्होंने लगभग साठ भिन्न भिन्न सिद्धान्तोंका जिक्र किया है, जिनमेंसे अनेकोंकी चर्चा हम इस पुस्तकके दूसरे और तीसरे अध्यायमें कर चुके हैं। टाल्स्टायने उन सब सिद्धान्तोंका बड़ी तत्परता एवं निर्दयतासे खण्डन किया है, पर जब वे अपना सिद्धान्त देने लगे हैं तब स्वयं भी असफल हुए हैं। जिन युक्तियोंसे उन्होंने औरोंका खण्डन किया है, उन्हीं युक्तियोंसे उनका भी खण्डन किया जा सकता है। कुछ लोगोंने ऐसा किया भी है। डाक्टर भगवान्‌दासजीने अपने "सायन्स आफ़ दि इमोशन्स" नामक ग्रन्थके 'इमोशन इन आर्ट' नामक अध्यायमें बड़े सुन्दर ढगसे पर मीठे शब्दोंमें यह दिखला दिया है कि टाल्स्टायकी युक्तियोंसे उन्हींके सिद्धान्तोंका पूर्णतया खण्डन हो जाता है। बात यह है कि स्वयं टाल्स्टायका सिद्धान्त भी निर्दोष नहीं है पर औरोंकी भाँति उसमें भी सत्यका अंश वर्तमान है। महात्मा टाल्स्टाय लिखते हैं कि "अध्यात्मवादियोंके कथनानुसार कला विचित्र सौंदर्यकी रहस्यमय प्रज्ञा अथवा ईश्वरकी अभिव्यक्ति नहीं है, और न यह कोई

---

* Tolstoy says The ordinary educated man thinks that art is such activity as produces beauty

† He then goes on to ask, But what is this beauty which forms the subject matter of art

खेल है जिसमें मनुष्य अपनी संचित शक्तियोंको मुक्त करता है जैसा कि शरीर विज्ञानवादी कहते हैं, (इसी प्रकार) यह बाह्य चिह्नों द्वारा मनुष्यके मनोभावोंकी भी अभिव्यक्ति नहीं है, न यह प्रीतिकर वस्तुओं-की उत्पत्ति ही है; यहाँ तक कि यह सुखकर भी नहीं है, बल्कि यह तो मनुष्योंमें परस्पर एकताका साधन है, जो उन्हें एक ही प्रकारके भावोंका अनुभव करानेके लिए एकत्र करनेवाला है, और जो व्यक्ति तथा मनुष्य-समाजके कल्याणकी उन्नति एवं जीवनके लिए अनिवार्य है।"*

ऊपर उद्धृत वाक्यको विचारपूर्वक देखनेसे जान पड़ेगा कि स्वयं टालस्टायका सिद्धान्त भी बड़ा विवादास्पद है। आखिर व्यक्तिगत एवं मनुष्य समाजका कल्याण किस बातमें है? दूसरे यह कि इस सिद्धान्तमें भी तो अति-व्याप्ति दोष है। पर हम यहाँ इन बातोंके शास्त्रार्थमें पड़ना उचित नहीं समझते। ये हमारे विषयके बाहरकी बातें हैं। अतः हम यहाँपर इस मीमांसामें नहीं पड़ेंगे कि कला क्या है? उसकी उत्पत्ति एवं विकास कैसे हुआ, इत्यादि। हम तो यहाँपर अपनी बुद्धिके अनुसार कलाका उद्देश्य थोड़ेमें बतलाकर यह दिखलानेका यत्न करेंगे कि कलामें जो सौंदर्य है वह भी आत्मरूप ही है।

यदि विचार करके देखा जाय तो कला और अध्यात्ममें कुछ भेद

---

* Art is not, as the metaphysicians say, the manifestation of some mysterious Idea of Beauty, or God, it is not as aesthetical physiologists say, a game in which man lets off his excess of stored up energy, it is not the expression of man's emotions by external signs, it is not the production of pleasing objects, and above all it is not pleasure, but it is a means of union among men, joining them together in the same feelings, and indispensable for the life and progress towards well being of individuals and humanity.

(Vide—"*What is Art*" p. 50)

नहीं है। अध्यात्मवादी श्रवण, मनन एव निदिध्यासन द्वारा जिस निश्चयपर पहुँचता है और जिस सत्यका वल्कि यों कहिये कि जिस आत्मरूपका साक्षात्कार प्राप्त करता है, उसी आत्मरूपको कला विशारद सहजबोध (इण्टूइशन) द्वारा देखता है। पर दोनोंमें कुछ भेद भी है। भेद यह है कि अध्यात्ममें जो आत्मसाक्षात्कार होता है वह व्यक्तिगत होता है, अध्यात्मवादी अपने अनुभवमें औरोंको शामिल नहीं कर सकता, वह अकेला ही उसका आनन्द लूटता है, पर कलाविद् जिस आत्मरूपका दर्शन करता है और जिस पर्देमेंसे दर्शन करता है उसे औरोंपर भी प्रकट करता है, वह अपने आनन्दमें दूसरोंको भी साझी बनाता है। साराश यह कि यथासम्भव सत्यको प्रकट करना ही कलाका उद्देश्य है। जिस सत्यका हमें साधारण जीवनमें साक्षात्कार नहीं होता, उसी सत्यको कलाविशारद स्वर, वर्ण तथा पत्थर आदि उपकरणोंकी सहायतासे प्रकट करनेकी चेष्टा करता है और इस प्रकार हमें आत्मदर्शन अथवा सत्यका साक्षात्कार कराया करता है।

कलाविशारद कला द्वारा ऐसे भावोंको प्रकट करनेकी चेष्टा करता है जिनसे हम कुछ क्षणके लिए इस क्षुद्र व्यक्तित्वसे ऊपर उठकर औरोंसे तादात्म्य प्राप्त करते हैं। दूसरोंसे एकता प्राप्त करानेमें वह मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रहता वल्कि कभी कभी पशु पक्षियों एव कीट पतगों तकसे हमारा तादात्म्य कराता है। अपने शिशुके लिए व्याकुल मृगीका किसी अच्छे कवि द्वारा किया गया वर्णन पढ़कर स्वभावत हमारे मनमें सहानुभूति पैदा होती है। उस समय हम भूल जाते हैं कि यह पशु है और हम मनुष्य। इस प्रकार कलाविशारद वस्तुओंको वास्तविक रूपमें प्रकट करता है। वह उनके नामरूपको न तो देखता है और न उसे प्रकट करनेकी चेष्टा ही करता है, वल्कि वह तो वस्तुओंमें से नामरूपके पर्देको यथासम्भव हटानेकी अथवा उन्हें सूक्ष्मतर करनेकी ही चेष्टा करता है। इसीलिए हम देखते हैं कि वह कहीं तो हमारे सामने

मानवता प्रकट करता है और कहीं प्राणिमात्रका साधारण धर्म। कहनेका तात्पर्य यह है कि यथासम्भव सत्यको प्रकट करना ही कलाका उद्देश्य है। स्थापत्य, भास्कर्य या तक्षण, चित्र, काव्य एवं संगीत इस उद्देश्यकी पूर्तिमें सहायक होते हैं।

हम आगे प्रत्येक कलापर पृथक् पृथक् विचार करते हुए यह दिखलानेका यत्न करेंगे कि किस प्रकार इन कलाओं द्वारा कलाविशारद आत्मरूपको प्रकट करनेकी चेष्टा करता है।

(१) स्थापत्य

स्थापत्य आंशिक रूपमें ही ललित कलाकी कोटिमें स्थान पाता है। इसके पूर्ण रूपेण ललित कला होनेमें दो प्रधान बाधाएँ हैं। प्रथम तो जो मकान, दुर्ग आदि निर्मित होते हैं वे मनुष्यके उपयोगकी दृष्टिसे बनाये जाते हैं, इसलिए स्वभावतः उनकी उपयोगिताकी ओर ही अधिक ध्यान आकर्षित होता है, दूसरी यह कि स्थापत्यमें उसके उपकरण-समूहसे साधारणतया निसर्गसे ही व्यक्त होनेवाले भावोंके अतिरिक्त और कोई बाहरी भाव उनके द्वारा कठिनतासे व्यक्त किया जा सकता है। पत्थर और उसीके सम-जातीय ईंट आदिमें काठिन्य एवं आकर्षण निसर्गसे ही पाये जाते हैं, कूटस्थता इनका नैसर्गिक गुण है। हाँ, कोई कोई चतुर स्थपति विद्या विशारद इन स्थूल उपकरणों द्वारा भी कुछ भाव व्यक्त करनेकी चेष्टा करते हैं, और तभी स्थापत्य ललित कलाकी कोटिमें गिना जाने योग्य होता है।

कुछ लोगोंका कहना है कि चतुर कला-विशारद स्थापत्यमें सममात्रता प्रकट करनेकी ही चेष्टा करता है और इस सममात्रताके कारण ही स्थापत्य ललित कलामें स्थान पा जाता है, पर यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि यदि सममात्रता प्रकट करना ही स्थापत्यका उद्देश्य मान लिया जाय तो फिर हम इसका कोई कारण नहीं बतला सकेंगे कि

भग्नावशेष मकानोंको देखकर हमें क्यों सौंदर्यानुभव होता है ? वहाँ तो सममात्रता नहीं रहती। हाँ, इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता कि सममात्रता स्थापत्यमें बहुत सहायक होती है; पर इतनेसे ही यह साध्य नहीं बन सकती।

इसी प्रकार सब अंगोंका कार्योपयोगी होना भी स्थापत्यको ललित कलाकी कोटिमें पहुँचानेमें सहायक नहीं होता, क्योंकि ऐसा हो सकता है कि कोई मकान कार्योपयोगी न हो पर बहुत ही सुन्दर हो एवं इसके विपरीत कोई मकान सुन्दर न हो पर अपने कार्यके लिए बहुत ही उपयोगी हो।

फिर प्रश्न उठता है कि स्थापत्य द्वारा क्या व्यक्त करनेकी चेष्टा कला-विशारद करता है ? इसका एक मात्र उत्तर यही हो सकता है कि स्थापत्य द्वारा वह सत्यको ही—आत्मरूपको ही—व्यक्त करनेकी चेष्टा करता है। यद्यपि यहाँ पर्दा बहुत ही घना है, फिर भी कलाविशारदकी सहज प्रज्ञा उसे भेदन कर जाती है और आत्माकी कूटस्थ सत्ताको हमारे सामने लाकर धर देती है। आकर्षण एवं काठिन्य मायाके सबसे घने अध्यारोप हैं पर कलाविशारद इन्हें निरन्तर एक दूसरेकी प्रतियोगितामें रखकर—दोनोंका निरन्तर संघर्ष दिखलाकर द्रष्टाको नाम रूपके ऊपर उठकर अपनी आत्माका धुँधला प्रतिबिम्ब देखनेमें सहायता करता है। यह संघर्ष जहाँ जितना ही अधिक स्पष्ट होगा वहाँ उतना ही स्पष्ट हमें

कि हम पहले ही कह आये हैं, स्थापत्यमें इसके उपकरण-समूहमें निसर्ग-से ही रहनेवाले भावोंके अतिरिक्त किसी दूसरे भावकी अभिव्यक्ति नहीं होती। किसी उद्यानमें कृत्रिम नदी और उसमें जल प्रपात, घुमाव-फिराव आदि बनाना, किसी मैदानको उद्यानका रूप देना आदि इसी स्थापत्यकी कोटिकी ललित कला है।

पर जैसा कि हमने पहले ही कहा है स्थापत्यका ललित कलाके अन्दर कठिनतासे समावेश होता है। ललित कलामें जिन कलाओंकी नि संकोच एवं सर्ववादि सम्मत गणना होती है वे हैं—(१) भास्कर्य या तक्षण विद्या (मूर्त्ति निर्माण-कला), (२) चित्रकला, (३) काव्य (दृश्य एवं श्रव्य दोनों प्रकारके), और (४) संगीत। पर यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि कुछ थोड़ेसे अपवादोंको छोड़कर सबमें मानव धर्म अथवा कार्य प्रकट करनेकी ही चेष्टा प्रबल है। मानवता प्रकट करनेमें कलाने जो सफलता पायी है एवं मानवता प्रकट करनेकी उसमें जो प्रबल प्रवृत्ति पायी जाती है वह आश्चर्यजनक है।

इसका कारण हमें तो यही जान पड़ता है कि मनुष्येतर जगत्में रजोगुण एवं तमोगुणकी प्रबलताके कारण आत्मप्रकाश स्फुट नहीं है। मनुष्यसे नीचेकी श्रेणियोंमें मायाका पर्दा बहुत ही घना है जिससे कला-विशारदको उनके द्वारा सत्यको—आत्मज्योतिको—प्रकट करनेमें बड़ा प्रयास करना पड़ता है, पर मनुष्यमें सत्वगुणका विकास होनेके कारण यहाँ आत्मज्योति स्वतः फूटी पड़ती है। मनुष्यके अन्त करणमें आत्म-प्रतिबिम्ब कुछ अधिक स्फुट होता है। अत उसके प्रकट करनेमें कलाविशारदको अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता। फिर, कलाविशारद स्वयं मनुष्य होनेके कारण, मानवता प्रकट करनेमें उसे स्वभावतः अधिक आनन्द आता है। यही कारण है कि हर प्रकारके कलाविशारद मानव-स्वभाव एवं मानव कार्य प्रकट करनेमें ही अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। अस्तु।

भग्नावशेष मकानोंको देखकर हमें क्यों सौंदर्यानुभव होता है ? वहाँ तो सममातृता नहीं रहती। हाँ, इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता कि सममातृता स्थापत्यमें बहुत सहायक होती है; पर इतनेसे ही वह साध्य नहीं बन सकती।

इसी प्रकार सब अगोंका कार्योपयोगी होना भी स्थापत्यको ललित कलाकी कोटिमें पहुँचानेमें सहायक नहीं होता, क्योंकि ऐसा हो सकता है कि कोई मकान कार्योपयोगी न हो पर बहुत ही सुन्दर हो एवं इसके विपरीत कोई मकान सुन्दर न हो पर अपने कार्यके लिए बहुत ही उपयोगी हो।

फिर प्रश्न उठता है कि स्थापत्य द्वारा क्या व्यक्त करनेकी चेष्टा कला विशारद करता है ? इसका एक मात्र उत्तर यही हो सकता है कि स्थापत्य द्वारा वह सत्यको ही—आत्मरूपको ही—व्यक्त करनेकी चेष्टा करता है। यद्यपि यहाँ पर्दा बहुत ही घना है, फिर भी कलाविशारदकी सहज प्रज्ञा उसे भेदन कर जाती है और आत्माकी कूटस्थ सत्ताको हमारे सामने लाकर धर देती है। आकर्षण एवं काठिन्य मायाके सबसे घने अध्यारोप हैं पर कलाविशारद इन्हें निरन्तर एक दूसरेकी प्रतियोगितामें रखकर—दोनोंका निरन्तर संघर्ष दिखलाकर द्रष्टाको नाम रूपके ऊपर उठकर अपनी आत्माका धुँधला प्रतिबिम्ब देखनेमें सहायता करता है। यह संघर्ष जहाँ जितना ही अधिक स्पष्ट होगा वहाँ उतना ही स्पष्ट हमें अपनी कूटस्थ सत्ताका भान होगा, निदान वहाँ उतना ही अधिक हमें निष्काम आनन्दका अनुभव होगा। इससे हम यह भी समझ सकते हैं कि मकान जितना ही बड़ा होगा उतना ही अधिक वहाँ आकर्षण एवं काठिन्यका संघर्ष दिखाई पड़ेगा। घनता भी इस संघर्षमें सहायक होती है, इसीलिए स्थापत्यमें लकड़ीकी अपेक्षा पत्थरका अधिक महत्व है।

भास्कर विद्या तथा चित्रकला और स्थापत्यमें यह भेद है कि, जैसा

कि हम पहले ही कह आये हैं, स्थापत्यमें इसके उपकरण-समूहमें निसर्ग-से ही रहनेवाले भावोंके अतिरिक्त किसी दूसरे भावकी अभिव्यक्ति नहीं होती। किसी उद्यानमें कृत्रिम नदी और उसमें जल प्रपात, घुमाव-फिराव आदि बनाना; किसी मैदानको उद्यानका रूप देना आदि इसी स्थापत्यकी कोटिकी ललित कला है।

पर जैसा कि हमने पहले ही कहा है स्थापत्यका ललित कलाके अन्दर कठिनतासे समावेश होता है। ललित कलामें जिन कलाओंकी निःसंकोच एवं सर्ववादि-सम्मत गणना होती है वे हैं—(१) भास्कर्य या तक्षण विद्या (मूर्त्ति निर्माण-कला), (२) चित्रकला, (३) काव्य (दृश्य एवं श्रव्य दोनों प्रकारके), और (४) संगीत। पर यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि कुछ थोड़ेसे अपवादोंको छोड़कर सबमें मानव-धर्म अथवा कार्य प्रकट करनेकी ही चेष्टा प्रबल है। मानवता प्रकट करनेमें कलाने जो सफलता पायी है एवं मानवता प्रकट करनेकी उसमें जो प्रबल प्रवृत्ति पायी जाती है वह आश्चर्यजनक है।

इसका कारण हमें तो यही जान पड़ता है कि मनुष्येतर जगत्में रजोगुण एवं तमोगुणकी प्रबलताके कारण आत्मप्रकाश स्फुट नहीं है। मनुष्यसे नीचेकी श्रेणियोंमें मायाका पर्दा बहुत ही घना है जिससे कला-विशारदको उनके द्वारा सत्यको–आत्मज्योतिको–प्रकट करनेमें बड़ा प्रयास करना पड़ता है, पर मनुष्यमें सत्त्वगुणका विकास होनेके कारण यहाँ आत्मज्योति स्वतः फूटी पड़ती है। मनुष्यके अन्तःकरणमें आत्म-प्रतिबिम्ब कुछ अधिक स्फुट होता है। अतः उसके प्रकट करनेमें कलाविशारदको अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता। फिर, कलाविशारद स्वयं मनुष्य होनेके कारण, मानवता प्रकट करनेमें उसे स्वभावतः अधिक आनन्द आता है। यही कारण है कि हर प्रकारके कलाविशारद मानव-स्वभाव एवं मानव कार्य प्रकट करनेमें ही अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। अस्तु।

(२) भास्कर्य या तक्षण

भास्कर-विद्या स्थापत्यकी अपेक्षा कुछ उच्च कोटिकी कला है। इसका कारण यही है कि इसमें उपकरणके नैसर्गिक गुणोंकी अपेक्षा उसके भीतर से व्यक्त होनेवाले व्यक्तित्वकी ही प्रधानता होती है अर्थात् इसमें उपकरणकी अपेक्षा आकृतिकी अधिकता होती है। जिस पदार्थ या व्यक्तिकी मूर्ति होती है उस पदार्थ या व्यक्तिके नामरूपकी अपेक्षा उसकी आकृति व उसके व्यक्तित्वको वह अधिक व्यक्त करती है। हाँ, इतना अवश्य है कि भास्कर्य द्वारा किसी व्यक्तिका सम्पूर्ण जीवन व्यक्त नहीं होता। जीवनका कोई एक ही भाव या अवस्था इसके द्वारा व्यक्त होती है। एक बात और है और वह यह कि भास्कर्यमें जातिकी अपेक्षा व्यक्तिकी प्रधानता होती है। भास्कर्यमें जो उपकरण-समूह हैं उनकी स्थूलताके कारण एक बड़ी भारी सुविधा यह होती है कि कलाविशारद अपनी इच्छानुसार जहाँ जैसी आवश्यकता हो मोटाई, गोलाई, चढ़ाव-उतार आदि बना सकता है।

(३) चित्रविद्या

भास्करविद्या और चित्रविद्यामें बहुत कम अन्तर है। दोनोंके द्वारा जीवनकी कोई एक विशेष अवस्था ही व्यक्त की जा सकती है। भेद यह है कि चित्रविद्यामें भास्कर्यके उपकरणोंकी भाँति स्थूलता न होनेसे मोटाई-गोलाई आदि बनानेकी वैसी सुविधा नहीं है, पर इसके बदलेमें चित्रविद्यामें रंगोंसे सहायता ली जाती है। चित्रविद्या स्थूल पत्थर आदिकी बिल्कुल सहायता नहीं लेती। इसके लिए केवल समतल भूमि (फ्लैट सरफेस) चाहिए। फिर रंगोंकी सहायतासे चित्रकार अपनी इच्छानुसार चित्र तैयार करता है एवं उसके द्वारा कोई भाव व्यक्त करता है। चित्रविद्यामें बाह्य आकृतिकी अपेक्षा आन्तरिक भावनाकी प्रधानता होती है, व्यक्तिकी अपेक्षा जाति अधिक व्यक्त होती है।

भास्कर्य एवं चित्र दोनों ही हमारी बुद्धि-वृत्तिके अन्तर्मुख होनेमें सहायक होते हैं क्योंकि उनके द्वारा जो भाव व्यक्त होता है वह हमें इस क्षुद्र व्यक्तित्वसे उठाकर ऐसी अवस्थामें पहुँचा देता है जिसमें पहुँच कर हम नाम-रूपको नहीं देखते, क्योंकि उस समय मूर्ति या चित्र द्वारा व्यक्त होनेवाले व्यक्ति या जातिसे हम तादात्म्य अनुभव करते हैं। अतः स्वभावतः उस समय हम सहानुभूतिकी अवस्थामें होते हैं जो सौंदर्यबोधके लिए आवश्यक है।

(४) काव्य

काव्य पूर्वोक्त तीनों कलाओंसे श्रेष्ठ है। इसमें उपकरणकी स्थूलता बिलकुल नहीं होती। यह न तो पत्थर, ईंट आदि स्थूल उपकरणोंकी सहायता लेता है और न वर्ण (रंग) एव समतल भूमिकी। काव्य तो केवल भाषाके शब्दोंकी ही सहायता लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि जहाँ स्थापत्य, तक्षण एवं चित्रकलामें कला-विशारद जिस भाव या सत्यको व्यक्त करनेकी चेष्टा करता है उसीको हम सब देखते हैं अर्थात् जहाँ पूर्वोक्त तीनों कलाओंमें पूर्वनिर्मित वस्तुमें एक ही भाव द्रष्टा मात्रको दिखाई पड़ता है, वहाँ काव्यमें यह विशेषता है कि यह श्रोताकी कल्पना-शक्तिको जगा देता है और इस प्रकार प्रत्येक श्रोता अपनी अपनी भावनाके अनुसार अपने अपने मनमें उस भावको मूर्त्तिमान् कर लेता है। शब्दोंमें यह एक आश्चर्यजनक गुण होता है कि वे श्रोताकी भावना एवं रुचिके अनुसार ही उसके मनमें विचार उत्पन्न करते हैं। इसीलिए काव्यकी इतनी महिमा है, क्योंकि काव्य शब्दोंकी ही सहायता लेता है, किसी स्थूल उपकरणकी नहीं।

दूसरी बात यह है कि चित्र एवं भास्कर्यमें किसी भी व्यक्ति या जातिका सम्पूर्ण चरित्र चित्रित नहीं हो सकता। इनमें तो जीवनकी कोई एक ही अवस्था व्यक्त की जा सकती है; पर काव्यमें सम्पूर्ण व्यक्ति या

मानव चरित्र खोलकर दिखलाया जा सकता है। साधारण अवस्थामें व्यक्ति अपने आपको पूरा पूरा व्यक्त नहीं करता पर किसी बहुत बड़ी विपत्तिके समय या आनन्दके समय वह कभी कभी अपना वास्तविक रूप अर्थात् पूरा अन्त करण व्यक्त करनेकी चेष्टा करता है यद्यपि वह ऐसा करनेमें समर्थ नहीं होता। यह सभीका अनुभव है कि अत्यधिक दु ख या अत्यधिक आनन्दमें हम निस्तब्ध एव मूक हो जाते हैं। पर कवि भाषाकी सहायतासे इन मूक भावोंको भी खोलकर हमारे सामने रख देता है। दूसरी बात जो कवि करता है वह यह है कि वह जिस पात्रका जो चरित्र व्यक्त करना चाहता है, उसमें असगत बातें नहीं आने देता। वास्तविक जीवनमें हममें कभी कभी ऐसी बातें भी दिखाई पड़ जाती हैं जो हमारे स्वभाव एव चरित्रसे मेल नहीं खातीं। पर कवि इन तमाम *असगत बातोंको निकाल कर एक सुसगत व्यक्तित्व हमारे सामने रखता* है। मानव स्वभाव पहचाननेमें काव्य जितनी हमारी सहायता करता है उतनी और कोई कला नहीं। नाटकके अन्दर अनेक प्रकारके चरित्रोंको पृथक् पृथक् और उनका परस्पर सघर्ष एव विरोध दिखला कर कवि हमें मनुष्य मात्रका ज्ञान कराता है, हमारा उनसे तादात्म्य कराता है।

काव्यका उद्देश्य भी और कलाओंकी भाँति सत्यको प्रकट करनेकी चेष्टा है। *कवि मानव हृदयको हमारे सामने खोलकर रख देता है।* हम स्वय मनुष्य हैं, इसलिए मानव अन्त करण हमारे अधिक निकट है। अत जब हम कोई कविता पढ़ते रहते हैं अथवा कोई नाटक देखते या पढ़ते हैं, उस समय हम अन्तर्मुख होकर अपने अन्त करणकी ओर भी एक तिरछी निगाहसे देखते रहते हैं और ज्यों ही कोई पद्य या किसी पात्रका *कोई चरित्र ऐसा दिखाई पड़ता है जिसके अनुरूप ही हमारा अन्त करण* है अर्थात् जहाँ कहीं भी कोई ऐसा भाव या चरित्र व्यक्त होता है जो अपने अन्त करणके भावके सदृश है वहाँ ही हम तादात्म्य अनुभव करने लगते हैं। उसमें हमारा अन्त करण हमारे लिए करामलकवत् हो

जाता है और जैसे ही हम अन्तर्मुख होकर अपना अन्तःकरण देखने लगते हैं वैसे ही उसमें आत्म प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। अन्तःकरण सूक्ष्म होनेके कारण एक तो यों ही उसमें आत्म-प्रतिबिम्ब अधिक स्पष्ट है; दूसरे, काव्य द्वारा वह क्षणमात्रके लिए आईनेकी भाँति हमारे सामने आ जाता है। इस प्रकार काव्य शेष तीन कलाओंकी अपेक्षा हमारे मनको अन्तर्मुख करनेमें अधिक सहायक है, और मनका अन्तर्मुख होना सौंदर्य बोधमें अत्यावश्यक है।

संगीतकी मनोमुग्धकारिणी शक्तिको जानते तो कदाचित् ऐसा न करते फिर संगीतमें कौनसी ऐसी बात है जिससे इसका इतना प्रभाव पड़ता है ?

बात यह है कि और कलाओंमें कलाविशारद हमारे सामने जो सत्य रखता है उससे तादात्म्य प्राप्त करना या उसे देखकर अन्तर्मुख होना अनिवार्य नहीं है, क्योंकि यह सत्य हमसे भिन्न वस्तुके माध्यमसे प्रकट किया जाता है। वह हमारी बुद्धिको अन्तर्मुख करनेमें सहायक नहीं भी हो सकता है; पर संगीतमें यह बात नहीं है। संगीत तो हमसे भिन्न किसी वस्तुको हमारे सामने नहीं रखता। बल्कि वह रागके

वह हमें सहसा बहिर्जगत्से खींचकर अन्तर्मुख कर देता है और इस प्रकार हम अपने ही आनन्दमय कोशमेंसे झलकनेवाले आत्मरूपको देखनेमें समर्थ होते हैं, क्योंकि यहाँ पर्दा अत्यन्त सूक्ष्म है, पारदर्शक है। संगीत सुनते समय हम अपनी इच्छा या तृष्णाके दास नहीं प्रत्युत उसके आरोह-अवरोह रूपी सुख-दु खके द्रष्टा होते हैं। उस समय हमारे सामने कोई बाह्य वस्तु या शब्द नहीं रहता वल्कि हमारा ही अन्त.करण समुद्रकी भाँति हिलोर मारता हुआ दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थापत्य, भास्कर्य, चित्र, काव्य एवं संगीत द्वारा कलाविशारद उत्तरोत्तर अधिक स्पष्टतासे सत्यको व्यक्त करनेकी चेष्टा करता है। इन कलाओंके उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होनेका यही कारण है कि इनका उपकरण उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता गया है। हम पहले ही कह आये हैं कि पर्दा ज्यों ज्यों सूक्ष्म होता जायगा त्यों त्यों आत्मरूप उसमेंसे अधिक स्पष्टतासे व्यक्त होगा। स्थापत्यमें स्थूल पंच भूत ही उपकरण हैं, भास्कर्यमें अन्नमय कोशकी प्रधानता है, चित्र एवं काव्यमें सूक्ष्म शरीरकी प्रधानता है एवं संगीतमें आनन्दमय कोशकी। इसीलिए इन कलाओंमें तारतम्य है।

अब हम अगले अध्यायमें थोड़ासा इस विषयपर विचार करके कि 'मनुष्य जीवन कैसे सौंदर्यमय बनाया जा सकता है ?' इन छोटेसे निबन्धको समाप्त करेंगे।

नवाँ अध्याय

जीवनको सौन्दर्यमय बनानेके उपाय

पिछले अध्यायोंमें हमने प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानोंके मतोंके आधारपर यह दिखलानेका यत्न किया है कि सौन्दर्य तत्वत. क्या है।

हमने यह भी दिखलाया है कि यह सौन्दर्यबोध ज्ञाता ज्ञेय सम्बन्धी किन अवस्थाओंपर निर्भर करता है। अब इस अध्यायमें हम कुछ इस विषयपर विचार करेंगे कि इस सिद्धान्तका अवलम्बन करके हम मनुष्य जीवनको कैसे सौन्दर्यमय बना सकते हैं, क्योंकि आजकल किसी भी सिद्धान्तका कोई विशेष मूल्य तबतक नहीं समझा जाता जबतक किसी न किसी रूपमें वह हमारे व्यवहारमें नहीं आता। यद्यपि यह सत्य है कि दार्शनिक पण्डित जब सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय विषयोंकी मीमांसा करने बैठता है तब वह इस बातकी परवाह नहीं करता कि सर्वसाधारण का इससे कुछ भला होगा या नहीं, फिर भी 'विद्याके लिए विद्या' का आदर्श पूर्वीय आदर्श नहीं रहा है, अतएव यहाँपर कुछ व्यावहारिक बातोंकी मीमांसा करना अप्रासंगिक न होगा।

मनुष्य-जीवनपर विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। मनुष्य समाजमें रहता है और समाज मनुष्योंसे मिलकर बना है। दोनोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव हम कह सकते हैं कि यदि समाजके सभी मनुष्य सौन्दर्यमय जीवन बिताना जान लें तो समाज सुखी रहेगा। पक्षान्तरमें यदि समाजका संघटन ऐसे आध्यात्मिक नियमोंके आधारपर किया जाय जिनपर सौन्दर्यबोध एवं तज्जन्य आनन्द निर्भर करता है तो समाजमें रहनेवाले मनुष्योंका जीवन सौन्दर्यमय, अतएव आनन्दमय हो सकता है। हम आगे कुछ ऐसे उपायोंपर संक्षेपमें विचार करेंगे जिनसे मनुष्य-जीवन सौन्दर्यमय बनाया जा सकता है।

छठें अध्यायके अन्तमें हमने कुछ ऐसे उपायोंपर विचार किया है जिनके द्वारा हमारी बुद्धि स्वच्छ, एकाग्र एवं निष्काम होकर हमें सर्वत्र सौन्दर्यानुभव करनेमें सहायता देती है। पर वे उपाय व्यक्तिगत हैं। वहाँ तो इतना ही दिखलाया गया है कि यदि कोई व्यक्ति चाहे तो उन साधनों द्वारा अपने मनको निष्काम बनाकर अपना जीवन

सौन्दर्यमय बना सकता है। पर इससे समष्टि रूपेण मनुष्य-जीवन सौन्दर्यमय नहीं बन सकता। समाजके सौन्दर्यमय हुए बिना मनुष्य-जीवनका सौन्दर्यमय होना सम्भव नहीं है। समाजमें दु ख शोक रहते यह कैसे हो सकता है कि समाजमें रहनेवाले व्यक्तियोंका जीवन सौंदर्य मय हो? अतएव हमें पहली बात यह करनी होगी कि हम व्यक्तियोंको सौन्दर्यसे प्रेम करना सिखावें, और दूसरी यह कि स्वयं समाजका संघटन भी ऐसे ही आध्यात्मिक नियमोंके आधारपर करना होगा जिनसे व्यक्तियोंको सौन्दर्यमय जीवन बितानेमें सहायता मिले बल्कि स्वभावत लोग सौन्दर्यमय जीवन व्यतीत करें।

पहली बातके लिए हमें ऐसे उपाय ढूँढ निकालने होंगे जिनसे मनुष्य प्रकृतिके अधिकाधिक सम्पर्कमें लाया जा सके। शिक्षामें ललित कलाको स्थान देना होगा। बचपनसे ही इस बातकी शिक्षा होनी चाहिए कि हम पशु पक्षियोंसे अच्छा व्यवहार करें जिससे हमारे भीतर सहानुभूतिका भाव दृढ हो। आजकल शिक्षाके प्रेमियोंका ध्यान इस ओर अवश्य गया है कि शिक्षालय ऐसे स्थानोंमें न हों जिनके चतुर्दिक कुत्सित मकान हों। उनका कहना है कि शिक्षालय स्वय सुन्दर होना चाहिये एव उसके चतुर्दिक् फूलपत्ते अधिक सख्या एव सुव्यवस्थित अवस्थामें हों। स्कूलोंमें भद्दे मज़ाक, गाली-गुफ्ता आदि हर्गिज़ न हों। पर केवल इतनेसे ही काम नहीं चल सकता। शिक्षामें हमें अभी बहुत कुछ सुधार करना है, किन्तु पद्धति चाहे कोई हो, हमें इस बातका उद्योग करना चाहिये कि उसमें ललित कलाका उचित स्थान हो। बचपनसे ही हमें ऐसा सस्कार डालना चाहिए जिससे हममें प्रकृतिसे प्रेम करनेका भाव जाग्रत हो। हम प्राकृतिक सौन्दर्यका स्वागत करना सीखें, आजकलकी भाँति उसका बिगाड़ना नहीं।

परन्तु, जैसा कि हमने पहले ही कहा है, समाजमें दु ख शोक रहते मनुष्य जीवन सौन्दर्यमय कैसे बनाया जा सकता है? यह बात तो

सभीकी समझमें सरलतासे आ सकती है कि समाज जितना ही सौन्दर्य मय होगा उतना ही मनुष्य-जीवन भी होगा। अतः मनुष्य-जीवनको सौन्दर्यमय बनानेके लिए हमें सामाजिक संघटनकी ओर विशेष कर उसके मूल आधारकी ओर ध्यान देना होगा।

अब प्रश्न उठता है कि वह आधार कौन हो सकता है जिसपर समाजकी नींव खड़ी करनेसे मनुष्यजीवन सौन्दर्यमय हो सके? पर इसका उत्तर देना अब हमारे लिए कठिन नहीं है। छठें अध्यायमें हमने देखा है कि सौन्दर्यानुभवके लिए यह आवश्यक है कि हमारी बुद्धि निष्काम हो। हम वस्तुओंको नि.स्वार्थभावसे देखें, अर्थात् हमारी बुद्धिवृत्ति बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख हो। इस रहस्यको यदि हम ध्यानमें रखें तो हमारे लिए उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर ढूँढ निकालना कठिन न होगा। हम कह सक्ते हैं कि मनुष्य-जीवनको सौंदर्यमय बनानेके लिए हमें समाजको आत्माभिमुख बनाना होगा।

वर्तमान समयमें समाजके सङ्घटनका कोई आधार नहीं है। जब जैसा समय आया तब तैसा क़ानून बना लिया जाता है। एकको रद्द करके दूसरा गढ़ा जाता है। पर इससे समाजका दुःख-शोक घटनेकी अपेक्षा प्रतिक्षण बढ़ता ही जा रहा है। इस समय समाजमें जो भयंकर असमानता विराजमान है, उसके रहते हुए मनुष्य-जीवनको सौंदर्यमय बनानेकी बात उठाना उपहासास्पद ही है। समाजका संघटन किसी निश्चित सिद्धान्तपर न होनेके कारण आजदिन समाजमें एक ओर तो ऐसे परोपजीवी पैदा हो गये हैं जो दूसरोंकी गाढ़ी कमाईको अपने ऐशो-आरामके लिए पानीकी तरह बहाते हैं, और दूसरी ओर—जिनकी संख्या बहुत ज्यादा है—ऐसे लोग हैं जो दिन रात कठिन परिश्रम करके भी पेटभर अन्न तथा शरीर ढँकनेके लिए पर्य्याप्त वस्त्र नहीं पाते। किसीके पास इतने महल और कोठे अटारियाँ हैं कि उनमें रहनेवाला कोई नहीं है और किसीके पास रहनेके लिए झोंपड़ी भी नहीं है। किसीके पास इतनी

मोटर और गाड़ियाँ हैं कि उनपर चढ़नेवाला तक कोई नहीं है और किसीके शरीरमें इतना भी बल नहीं रह गया है कि पैदल भी कुछ दूर सुखसे टहल सके। किसीका जीवन सदा काहिली एवं बिना कुछ मिहनत किये ऐशो-आराममें बीत रहा है तो कोई पेटकी ही चिन्तामें मरा जा रहा है, उसे इतना भी अवकाश नहीं मिलता कि कुछ क्षणके लिए स्वस्थ बैठकर निष्काम भावसे सौन्दर्यानुभव या सुख प्राप्त करे। किसीके पास बिना मिहनत किये ही इतना धन एकत्र हो गया है कि वह जानता ही नहीं कि उसे कैसे ख़र्च करे और किसीके पास, दिनरात कठोर परिश्रम करने पर भी, कुछ नहीं रहने पाता। ऐसी स्थितिमें मनुष्यजीवनका सौंदर्यमय होना असम्भव है। इसके लिए तो हमें समाजका आमूल परिवर्तन करना होगा। अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि हमें समाजकी इमारतको आध्यात्मिक नींवपर खड़ा करना होगा, क्योंकि अभीतक तो समाजका कोई मूल ही नहीं है और यदि कुछ है भी तो वह दूषित है। यह कहाँका न्याय है कि कोई खाते खाते मरे और कोई खाने ही बिना मरे।

आज तक समाजके संघटनका जो आधार रहा है, कमसे कम पश्चिम-में—और जो अब भी है, उससे प्रत्येक व्यक्ति अपने ही लिए जीना सीखता है, बहुत हुआ तो अपने परिवार या मित्रोंको भी अपने सुखमें साझी बना लेता है। लोगोंकी ऐसी धारणा बन गयी है कि प्रत्येक व्यक्तिको यह अधिकार है कि इस प्रकृतिमेंसे जितना वह ले सके ले। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थपरायण हो जाता है। उसे औरोंके सुख एवं आरामका कोई ध्यान नहीं रहता। प्रत्येक यही चाहता है कि अधिकसे अधिक सुख सामग्री हम अपने अधिकारमें रखलें और जब वह एक बार कुछपर अधिकार कर लेता है तो फिर उसमें औरोंको घुसने नहीं देता; उसे अपनी मिल्कियत समझने लगता है। और यदि दूसरा उस मिल्कियतकी ओर आँख उठाता है तो वह चाहता है कि उसकी आँख फोड़ दूँ। इसीके परिणामस्वरूप आज संसारमें इतनी

असमानता, इतना कोलाहल एवं दुःख शोक है। इस व्यक्तिवादको मिटाये बिना संसारमें सुख शान्ति होना सम्भव नहीं।

अतएव मनुष्य जीवनको सौंदर्यमय बनानेके लिए हमें समाजका संघटन समाजवादके आधारपर करना होगा, व्यक्तिवादको हटाकर समाजवादका भाव जाग्रत करना होगा। हमें समाजमें ऐसे कानून और नियम बनाने होंगे जिनसे सबमें निष्काम सेवाभाव जाग्रत हो। इसके लिए सम्पत्तिपरसे व्यक्तिगत अधिकार हटाना होगा, क्योंकि जबतक लोगोंमें अपने अपने लिए धन एकत्र करनेका भाव वर्तमान रहेगा तबतक समाजभाव जाग्रत नहीं हो सकेगा, तबतक निष्कामबुद्ध्या काम करना लोग नहीं सीखेंगे। अतएव समाजको अथवा समाजके प्रतिनिधि स्वरूप सरकारको ऐसा नियम बनाना होगा जिससे भूमि एवं उपजपर समाजका ही अधिकार हो, व्यक्तिका नहीं। उस उपजमेंसे सबको आवश्यकतानुसार कुछ निश्चित रकम दे दी जाया करे जिससे उन्हें खाने पहननेकी चिन्ता न रहे। सबमें ऐसा भाव जाग्रत किया जाय जिससे लोग समाजके लिए काम करना सीखें, अपने लिए नहीं, समाजके साथ वे तादात्म्यका अनुभव करें। इसका परिणाम यह होगा कि धीरे धीरे लोगोंमेंसे स्वार्थपरता हटती जायगी और निष्काम कर्म करनेकी आदत पड़ती जायगी। और चूँकि सौंदर्यबोधके लिए निष्काम भाव आवश्यक है इसलिए उस समय सारा मनुष्य जीवन सौंदर्यमय बन जायगा।

ईशोपनिषद्में एक बड़ा ही सुन्दर मंत्र आया है जिसका भाष्यकारों एवं टीकाकारोंने अर्थ ही बिगाड़ दिया है। यदि उसका ठीक अर्थ किया जाय तो इससे हमारे इस मतकी ही पुष्टि होती है कि सम्पत्तिपर समाजका ही अनन्याधिकार हो और सब लोग समाजके लिए ही कार्य करें। वह मंत्र इस प्रकार है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। (ईशोप० १)

इसका अर्थ हमारी समझसे इस प्रकार है —
'इस जगत्में जो कुछ है सब समाजके प्रतिनिधिस्वरूप सरकार (ईष्टे, इति, ईट्-शासन करनेवाला अर्थात् समाज) का है। अत. (हे मनुष्यो!) समाज जो कुछ तुम्हें दे (तेन त्यक्तेन-उसका दिया हुआ) उसीका उपभोग करो। (अधिकके लिए) लालच मत करो (मा गृध)। (क्योंकि) धन किसका है? (कस्यस्विद्धनम्) अर्थात् धन (सम्पत्ति) व्यक्तिका नहीं, समाजका है।'

इसका भाव स्पष्ट ही है। प्राचीन ऋषि-महर्षियोंने व्यक्तिवादकी बुराइयोंको जान लिया था इसीलिए उन्होंने ऐसा उपदेश दिया है कि 'हे मनुष्य, तुम्हें यह बात समझ लेनी चाहिए कि इस पृथ्वीपर जो कुछ है उसपर सबका समान अधिकार है।' पर इससे यह अभिप्राय नहीं है कि जो चाहे वही मनमाना इसका उपभोग करे। नहीं, जब सबका समानाधिकार है तब इसपर समष्टिरूपेण समाजका ही अधिकार होना चाहिए। यह अधिकार समाज अपने प्रतिनिधिस्वरूप सरकार या पचायतके हाथमें दे देता है। इसीलिए उपर्युक्त मत्रमें 'ईशा' शब्द आया है। ईशाका अर्थ कहीं अन्यत्र बैठा हुआ परोक्ष ईश्वर नहीं है जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। ईशा, ईट्का तृतीयाका रूप है और शासकके लिए प्रयुक्त होता है। समाज ही हमारा सबसे बड़ा शासक है इसीलिए हमने इसका अर्थ समाज ही किया है। अस्तु, इसपर यह शका उठ सकती है कि यदि सब कुछ समाजका ही है तो फिर हम लोग खायँ पहनें क्या? इसका उत्तर ऋषि देते हैं कि घबड़ाओ नहीं, समाज तुम्हारा है, इसलिए तुम्हारे खाने पीनेकी व्यवस्था वही करेगा। पर हाँ, एक बातका ध्यान रखना कि तुम्हारे लिए समाज जो कुछ नियत कर दे उसीपर तुम्हें सन्तोष हो, अधिकके लिए लालच न हो, क्योंकि तुम जानते हो कि सम्पत्ति किसकी है। सम्पत्तिपर अधिकार समाजका है, सिर्फ तुम्हारा ही नहीं।

समाज नहीं बनाया जा सकता, पर साथ ही मेरा यह भी कहना है कि यदि हम मनुष्योंको देवता नहीं बना सकते तो कमसे कम उन्हें दैत्य तो न बनावें। समाज यदि मनुष्योंको देवता नहीं बना सकता तो कमसे कम उनके इस उद्योगमें बाधक तो न बने। आजका हमारा सामाजिक संघटन तो प्रत्यक्ष ही अधिकांश लोगोंके लिए बाधक सिद्ध हो रहा है। आजके व्यक्तिवादने धनका इतना महत्त्व बढ़ा दिया है कि हमारा सारा सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन किरकिरा हो रहा है। लोगोंकी यह धारणा बन गयी है कि 'सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ते' अर्थात् सम्पत्तिमें ही सब गुण रहते हैं। आज तो मनुष्य विद्या, बुद्धि अथवा बलमें चाहे जितनी उन्नति कर जाय पर यदि उसके पास रुपया नहीं है तो वह प्रतिष्ठित नहीं समझा जाता। यह सब बाधा नहीं तो और क्या है?

अतएव हमारा यही कहना है कि समाजको ही सौंदर्यमय बनानेसे मनुष्यजीवन सौंदर्यमय हो सकता है।

इस अध्यायमें हमने कई स्थानोंपर इस बातका उल्लेख किया है कि व्यक्तिवादको हटाकर समाजवादको स्थापित करना होगा। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि व्यक्तिवाद बिलकुल ही नष्ट कर दिया जा सकता है। सामाजिक संघटनका आधार समाजवादको बनानेसे कमसे कम मेरा अभिप्राय तो यह नहीं ही है कि व्यक्तिवादका कोई स्थान ही न हो। हाँ, यह अवश्य है कि व्यक्तिवादका वर्तमान रूप तो किसी भी हालतमें नहीं रहना चाहिए। मेरी समझसे दोनों ओरका अतिवाद अच्छा नहीं है। आदर्श समाज तो वही हो सकता है जिसमें व्यक्ति और समाज बल्कि यों कहना अच्छा होगा कि 'अहम्' और 'वयम्' अर्थात् 'मैं' और 'हम' दोनोंकी मात्रा समान हो। न 'मैं' की प्रबलता, हो न 'हम' की, बल्कि 'मैं' और 'हम' दोनों मिलकर काम करें। 'मैं', 'हम' के लिए कर्म करे और 'हम' 'मैं' के सुख साधनका ध्यान रखे।

अन्तमें मेरा यही कहना है कि सौंदर्यतत्त्व विषयक इस छोटी-सी

पर कहीं लोग ऐसा न समझ लें कि फिर तो हमें कुछ काम करने की आवश्यकता ही नहीं है। जब कि समाज हमारे लिए खाने पीने और रहनेका प्रबन्ध कर ही देगा तो फिर हमें कुछ काम करनेकी क्या आवश्यकता है? पर उसी उपनिषद्में आगे चलकर ऋषि कहते हैं कि 'नहीं, तुम्हें काहिलीसे दिन नहीं बिताना होगा, तुम्हें तो "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा" कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा रखनी होगी।' अन्तर इतना ही है—अबतक अपने लिए काम करते थे अब समाजके लिए करो, अबतक अपने लिए जीते थे अब समाजके लिए जिओ। अस्तु।

संक्षेपमें यही सिद्धान्त है जिसपर समाजका संघटन करनेसे मनुष्य-जीवन सौंदर्यमय बनाया जा सकता है। समाजका कर्त्तव्य होगा कि एक ओर तो वह सबको समाजके लिए काम करना सिखावे और दूसरी ओर भगवान् कृष्णकी भाँति यह कहे कि—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥"

'जो लोग तन्मय होकर अनन्य भावसे मेरी (समाजकी) उपासना अर्थात् सेवा करेंगे उन नित्य मुझमें लगे हुए लोगोंके योग और क्षेमका भार मैं (समाज) अपने ऊपर लेता हूँ।' योगका अर्थ है अपने सुख-साधनके लिए वस्तुओंका संग्रह करना और क्षेमका अर्थ है उसकी रक्षा करना। सारांश यह कि समाजका संघटन किसी न किसी प्रकारके साम्यवादके आधारपर करना होगा, तभी मनुष्य जीवन सौंदर्यमय बनाया जा सकता है।

उपर्युक्त बातें लिखनेसे, सम्भव है, किसीके मनमें यह विचार उठे कि कदाचित् मेरा विश्वास ऐसा है कि कानून द्वारा कोई देवता बनाया जा सकता है। पर मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मेरा ऐसा अभिप्राय नहीं है। मैं यह जानता हूँ कि कानून द्वारा मनुष्य समाज देव-

समाज नहीं बनाया जा सकता; पर साथ ही मेरा यह भी कहना है कि यदि हम मनुष्योंको देवता नहीं बना सकते तो कमसे कम उन्हें दैत्य तो न बनावें। समाज यदि मनुष्योंको देवता नहीं बना सकता तो कमसे कम उनके इस उद्योगमें बाधक तो न बने। आजका हमारा सामाजिक संघटन तो प्रत्यक्ष ही अधिकांश लोगोंके लिए बाधक सिद्ध हो रहा है। आजके व्यक्तिवादने धनका इतना महत्त्व बढ़ा दिया है कि हमारा सारा सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन किरकिरा हो रहा है। लोगोंकी यह धारणा बन गयी है कि 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते' अर्थात् सम्पत्तिमें ही सब गुण रहते हैं। आज तो मनुष्य विद्या, बुद्धि अथवा बलमें चाहे जितनी उन्नति कर जाय पर यदि उसके पास रुपया नहीं है तो वह *प्रतिष्ठित नहीं समझा जाता। यह सब माया नहीं तो और क्या है?*

अतएव हमारा यही कहना है कि समाजको ही सौंदर्यमय बनानेसे मनुष्यजीवन सौंदर्यमय हो सकता है।

इस अध्यायमें हमने कई स्थानोंपर इस बातका उल्लेख किया है कि व्यक्तिवादको हटाकर समाजवादको स्थापित करना होगा। इसका *यह अभिप्राय नहीं है कि व्यक्तिवाद बिलकुल ही नष्ट कर दिया जा* सकता है। सामाजिक संघटनका आधार समाजवादको बनानेसे कमसे कम मेरा अभिप्राय तो यह नहीं ही है कि व्यक्तिवादका कोई स्थान ही न हो। हाँ, यह अवश्य है कि व्यक्तिवादका वर्तमान रूप तो किसी भी हालतमें नहीं रहना चाहिए। मेरी समझसे दोनों ओरका अतिवाद *अच्छा नहीं है। आदर्श समाज तो वही हो सकता है जिसमें व्यक्ति* और समाज बल्कि यों कहना अच्छा होगा कि 'अहम्' और 'वयम्' अर्थात् 'मैं' और 'हम' दोनोंकी मात्रा समान हो। न 'मैं' की प्रबलता हो न 'हम' की, बल्कि 'मैं' और 'हम' दोनों मिलकर काम करें। 'मैं' 'हम' के लिए कर्म करे और *'हम' 'मैं' के सुख-साधनका ध्यान रखे।*

अन्तमें मेरा यही कहना है कि सौंदर्यतत्व विषयक इस छोटी-सी

पुस्तकमें समाजवाद एव व्यक्तिवाद जैसे विवादास्पद विषयपर पूर्णतया विचार तो नहीं हो सकता पर इस पुस्तकमें सौंदर्यकी मीमांसाके बाद हम जिस सिद्धान्तपर पहुँचे हैं उसको देखते हुए हमें यही कहना पड़ता है कि जबतक समाजका सघटन उन्हीं आध्यात्मिक नियमोंके आधारपर नहीं किया जाता जिनपर सौंदर्यबोध निर्भर करता है तबतक मनुष्यजीवनको सौंदर्यमय बनाना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि वर्तमान समयमें ससारमें जो व्यक्तिवाद प्रचलित है उसके रहते हुए तो मनुष्य-जीवनको सौंदर्यमय बनानेकी चर्चा भी नहीं हो सकती।

अनुक्रमणिका